अशोक भाटिया

ISBN : 978-81-88081-99-8

दिशा प्रकाशन
138/16 त्रिनगर, दिल्ली-110 035

पड़ाव और पड़ताल खण्ड-6 सम्पादक : अशोक भाटिया

श्रृंखला-संयोजक : मधुदीप

# पड़ाव और पड़ताल

## खण्ड-6

सम्पादक : अशोक भाटिया

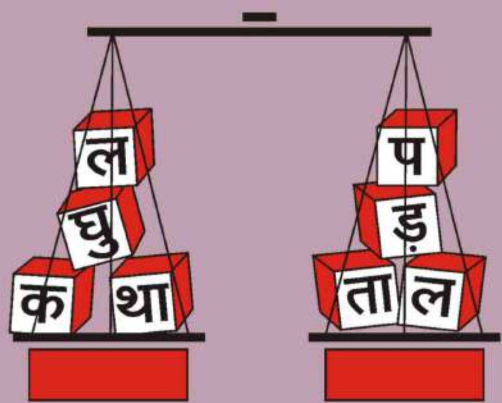

# पड़ाव और पड़ताल-6

सत्तर के दशक से पूर्व के
छह कथाकारों की चुनिंदा लघुकथाएँ
और
उनकी पड़ताल

दिशा प्रकाशन
138/16 त्रिनगर, दिल्ली-110 035

# पड़ाव और पड़ताल

(खण्ड-6)

सम्पादक : अशोक भाटिया

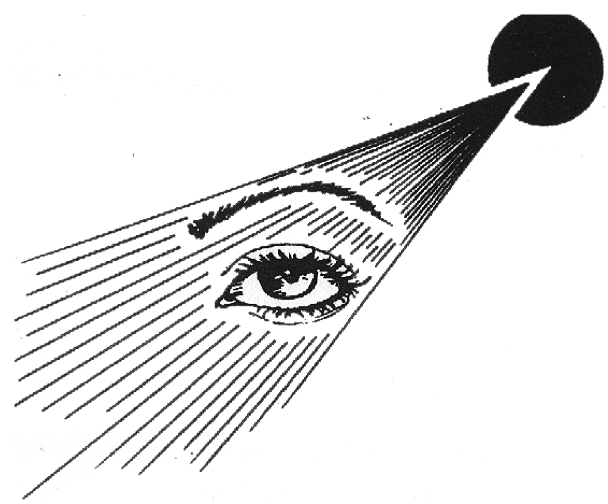

ISBN : 978-81-88081-99-8

मूल्य : चार सौ पचास रुपये
© : प्रकाशक (पुस्तक रूप में)
प्रथम संस्करण : 2014
प्रकाशक : दिशा प्रकाशन, 138/16, त्रिनगर, दिल्ली-110 035
आवरण : चेतनदास
मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

PARAAV AUR PARTAAL-6 (Selected small stories of six writers & their criticism)
Ed. by Dr. Ashok Bhatia Price : Rs. 450.00

Series Convener : Madhudeep

Published by
**DISHA PRAKASHAN**
138/16, Onkar Nagar-B, Tri Nagar,
Delhi-110 035 (India)
Phone : 2738 5832, 2738 3646, 93124 00709, 81300 70928
E-mail : dishaprakashan1@gmail.com
madhudeep01@gmail.com

*माँ*
*राज रानी भाटिया की स्मृति में!*

*माँ तब भी थी,*
*जब पिता थे।*

*माँ तब भी थी,*
*जब पिता नहीं थे।*

*माँ अब भी है,*
*जब माँ नहीं है।*

*जो दिखता नहीं,*
*वह भी होता है।*

*अवसान : 5 जून, 2014*

## ‘पड़ाव और पड़ताल’ के पहले खण्ड के रचनाकार

### लघुकथाकार

अशोक वर्मा, कमल चोपड़ा, कुमार नरेन्द्र, मधुकान्त, मधुदीप, विक्रम सोनी

### आलेख

डॉ. कमलकिशोर गोयनका

### पड़ताल

प्रो. सुरेशचन्द्र गुप्त, डॉ. स्वर्ण किरण, विनय विश्वास,
प्रो. रूप देवगुण, भगीरथ, डॉ. सतीश दुबे, डॉ. सुलेखचन्द्र शर्मा
सम्पादक : मधुदीप
प्रकाशन : 1988 एवं 2013

## खण्ड-2 के रचनाकार

### लघुकथाकार

चित्रा मुद्गल, जगदीश कश्यप, बलराम अग्रवाल,
भगीरथ, युगल, सुकेश साहनी

### आलेख

डॉ. शकुन्तला किरण

### पड़ताल

भारतेन्दु मिश्र, सुभाषचन्दर, डॉ. पुरुषोत्तम दुबे, डॉ. उमेश महादोषी,
प्रो. शैलेन्द्रकुमार शर्मा, ऋषभदेव शर्मा, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय
सम्पादक : बलराम अग्रवाल
श्रृंखला संयोजक : मधुदीप
प्रकाशन : 2014

## खण्ड-3 के रचनाकार

आलेख : डॉ. सतीशराज पुष्करणा
लघुकथाकार : प्रबोधकुमार गोविल, मधुदीप, रमेश बतरा, रूप देवगुण, सतीश दुबे, सूर्यकान्त नागर
समीक्षा खण्ड : डॉ. हरनाम शर्मा, डॉ. जितेन्द्र 'जीतू', सुभाष नीरव, डॉ. अशोक लव, माधव नागदा, डॉ. अशोक भाटिया
समालोचना : भगीरथ
धरोहर : रमेश बतरा का लघुकथा पर लेख
सम्पादक : मधुदीप
प्रकाशन : 2014

## खण्ड-4 के रचनाकार

आलेख : डॉ. उमेश महादोषी
लघुकथाकार : अशोक भाटिया, पृथ्वीराज अरोड़ा, माधव नागदा, मोहन राजेश, श्यामसुन्दर अग्रवाल, सुभाष नीरव
समीक्षा खण्ड : बी.एल. आच्छा, प्रो. रूप देवगुण, डॉ. योगेन्द्रनाथ शुक्ल, डॉ. मलय पानेरी, डॉ. श्यामसुन्दर दीप्ति, डॉ. बलराम अग्रवाल
समालोचना : सूर्यकान्त नागर
धरोहर : जगदीश कश्यप का लघुकथा पर लेख
सम्पादक : भगीरथ
शृंखला संयोजक : मधुदीप
प्रकाशन : 2014

## खण्ड-5 के रचनाकार

आलेख : डॉ. जितेन्द्र 'जीतू'

लघुकथाकार : अशोक लव, दीपक मशाल, बलराम, राजकुमार गौतम, सतीशराज पुष्करणा, हरनाम शर्मा

समीक्षा खण्ड : पवन शर्मा, रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु', महेश दर्पण, सूर्यकान्त नागर, डॉ. मिथलेश कुमारी मिश्र, प्रो. रूप देवगुण

समालोचना : डॉ. सतीश दुबे

धरोहर : आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री से सतीशराज पुष्करणा की लघुकथा पर भेंटवार्ता

सम्पादक : मधुदीप

शृंखला संयोजक : मधुदीप

प्रकाशन : 2014

# 'पड़ाव और पड़ताल' का आगामी खण्ड

## खण्ड-7

आलेख : डॉ. बलराम अग्रवाल

लघुकथाकार : घनश्याम अग्रवाल, पवन शर्मा, रामकुमार आत्रेय, रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु', विजय अग्रवाल, सुरेन्द्र मन्थन

समीक्षा खण्ड : माधव नागदा, निशान्तर, डॉ. शील कौशिक, सुकेश साहनी, डॉ. जितेन्द्र 'जीतू', श्यामसुन्दर अग्रवाल

समालोचना : सतीशराज पुष्करणा

धरोहर : कृष्ण कमलेश का लघुकथा पर लेख

सम्पादक : मधुदीप

शृंखला संयोजक : मधुदीप

# क्रम

यह संकलन / डॉ. अशोक भाटिया / 11
हिन्दी लघुकथाओं में यथास्थिति का अतिक्रमण / माधव नागदा / 15

पड़ाव खण्ड

1. अयोध्या प्रसाद गोयलीय / 27
2. कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' / 49
3. जगदीशचन्द्र मिश्र / 67
4. प्रेमचन्द / 91
5. विष्णु प्रभाकर / 117
6. हरिशंकर परसाई / 137

पड़ताल खण्ड

1. अयोध्या प्रसाद गोयलीय की लघुकथाएँ : साँस लेती हुई भलमनसाहत / डॉ. बलवेन्द्र सिंह / 157
2. मानवीय संवेदनाओं के लघुकथाकार कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' / सुरेश यादव / 162
3. मानव-मन को उद्घाटित करतीं आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र की लघुकथाएँ / डॉ. ओम प्रकाश 'करुणेश' / 166
4. प्रेमचन्द की लघुकथाओं में बहुआयामी यथार्थ / डॉ. राजेन्द्र टोकी / 170
5. जीवन-मूल्यों को अधिमान देतीं विष्णु प्रभाकर की लघुकथाएँ / डॉ. सुभाष रस्तोगी / 174
6. परसाई की लघुकथाएँ : सौन्दर्य-बोध के नए प्रतिमान / डॉ. बलराम अग्रवाल / 182

7. हिन्दी लघुकथा की बुनियाद / डॉ. राकेश कुमार / 194

धरोहर खण्ड

1. रमेश बतरा का गौरीनन्दन सिंहल द्वारा लिया गया साक्षात्कार / 219
2. विष्णु प्रभाकर का डॉ. अशोक भाटिया द्वारा
लिया गया साक्षात्कार / 226
3. हरिशंकर परसाई का मुकेश शर्मा द्वारा लिया गया साक्षात्कार / 229

# यह संकलन

हिन्दी लघुकथा बीसवीं सदी के आठवें दशक में भले ही नए सिरे से उभरकर आई हो, किन्तु वह कथा-साहित्य में बहुत पहले से विद्यमान रही है। स्वयं प्रेमचन्द की कहानियों के साथ-साथ ऐसी महत्त्वपूर्ण लघु आकारीय कथा-रचनाएँ शामिल रहीं, जिन्हें आज हम लघुकथा कहते हैं। 'दरवाजा' (1917), 'बाबाजी का भोग' (1926) और 'राष्ट्र का सेवक' (1930) लघुकथाएँ समकालीन लघुकथाओं के शैली-शिल्प और तेवर लिए हैं। लगभग इसी समय जगदीशचन्द्र मिश्र ने भी लघुकथाएँ लिखनी प्रारम्भ कर दी थीं। उनकी पहली लघुकथा 'बूढ़ा व्यापारी' सन् 1919 में लिखित बताई जाती है। प्रकाशचन्द्र यादव ने जगदीशचन्द्र मिश्र के आठ लघुकथा-संग्रहों—पंचतत्त्व, खाली भरे हाथ, उड़ने के पंख, मिट्टी के आदमी, धूल के फूल, ऐतिहासिक लघुकथाएँ, माणिक-मोती, हीरे-मोती—का उल्लेख अपने लेख 'हिन्दी लघुकथा के जनक : जगदीशचन्द्र मिश्र' में किया है, जो 31 मई, 1995 के 'राष्ट्रभाषा सन्देश' में प्रकाशित हुआ है। इनमें से 'मिट्टी के आदमी' संग्रह ही उपलब्ध है, जिसकी लघुकथाएँ विषय-निर्वाह में सहजता और खुलेपन की मिसाल कायम करती हैं। वहाँ लघुकथा का, आज की तरह, बना-बनाया साँचा-ढाँचा नहीं है, जिस कारण इन रचनाओं की सम्प्रेषण-शक्ति और ताजगी पाठकों का ध्यान खींचने में सक्षम है।

अयोध्या प्रसाद गोयलीय (1902-1975) के दो लघुकथा-संग्रह 'गहरे पानी पैठ' और 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' (1955) भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रकाशित किए हैं। लक्ष्मीचन्द्र जैन के शब्दों में इन दोनों पुस्तकों में 'लोकप्रिय विषयवस्तु और रोचक शैली' पर बल दिया गया है। लोकप्रियता और रोचकता की अपनी शक्ति होती है, तो सीमाएँ भी होती हैं। वे दोनों इन रचनाओं में देखी जा सकती हैं।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (1906-1995) निबन्धकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हुए। किन्तु 1952 में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित उनका लघुकथा-संग्रह 'आकाश के तारे : धरती के फूल' उनके निबन्धकार रूप की कसावट तथा कहानी का कथा-रस दोनों के रसायनिक मिश्रण का उदाहरण है।

विष्णु प्रभाकर (1912-2009) की लघुकथाएँ वास्तव में बीसवीं सदी में

हिन्दी लघुकथा के विकास के विविध आयामों को सामने लाती हैं। सन् 1939 ई. में 'हंस' में इनकी पहली लघुकथा 'सार्थकता' प्रकाशित हुई। तब से लेकर इनके पहले लघु रचना-संग्रह 'जीवन-पराग' (1963) तक का इनकी लघु कथा-रचनाओं का आधार बोधपरक रहा, जिस कारण लेखक ने स्वयं इन्हें 'बोधकथाओं का संग्रह' कहा है। सन् 1982 में इनके 'आपकी कृपा है' संग्रह में पहले संग्रह की रचनाओं के साथ 13 और रचनाएँ जुड़ गईं, जो समकालीन हिन्दी लघुकथाओं के निकट हैं। इसके पश्चात् विष्णुजी दृष्टान्त शैली को छोड़ते दिखाई देते हैं और सामाजिक यथार्थ से सीधे टकराते हैं, जिस कारण उनकी शैली में भी परिवर्तन आता गया। 1989 में प्रकाशित इनके लघुकथा-संग्रह 'कौन जीता, कौन हारा' में 1982 के बाद की लघुकथाओं को इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। विष्णुजी की अन्य रचनाओं की भाँति लघुकथाएँ भी मानवीय आदर्श और सदिच्छाओं से प्रेरित हैं। विष्णु प्रभाकर की लघुकथाएँ समाज से व्यावहारिक आदर्श के कण बीनने और उन्हें रोचक शैली में ढालने में कुशल हैं। इनकी सभी लघुकथाएँ 2008 में प्रकाशित इनकी पुस्तक 'सम्पूर्ण लघुकथाएँ' में मिलती हैं।

भारतीय साहित्य के शीर्षस्थ व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई (1924-1995) मूलतः निबन्धकार व कहानीकार हैं। इनकी लघुकथाएँ 1948 ई. से मिलती हैं और आरम्भ से अन्त तक समग्र लघुकथाएँ यथार्थ की कलात्मक चीर-फाड़ करती हैं। इन रचनाओं में सुदर्शन या अयोध्या प्रसाद गोयलीय की लघुकथाओं की भाँति 'रोमान' तत्त्व नहीं मिलता। परसाई की लघुकथाओं में तर्क और व्यंग्य के अस्त्रों के साथ राजनीति, समाज व परिवार में व्याप्त छद्म आचरण, विसंगतियों व अन्तर्विरोधों के प्रति आक्रामक रुख अपनाया गया है। परसाई की 'बात' (1954), 'दानी' (1954), 'अपना-पराया' (1954), 'संस्कृति' (1956) जैसी लघुकथाएँ आठवें दशक में तेजी से सामने आनेवाली लघुकथाओं के लिए दिशा-निर्देशक का काम करती हैं।

जो लेखक-आलोचक हिन्दी लघुकथा का आठवें दशक से प्रारम्भ मानते हैं, उन्हें—'पड़ाव और पड़ताल' का यह खण्ड अवश्य देखना चाहिए। इसमें हिन्दी लघुकथा के विकास के विभिन्न पड़ाव मिलेंगे। जगदीशचन्द्र मिश्र ने 'मिट्टी के आदमी' संग्रह की रचनाओं को व्यंग्यात्मक लघुकथाएँ कहा है। यह लघु आकारीय कथा-रचना में व्यंग्य के महत्त्व को रेखांकित करता है, हालाँकि इस संग्रह की लघुकथाओं में व्यंग्य बहुत उभार के साथ नहीं आया। इसका उत्कर्ष परसाई की लघुकथाओं में मिलता है। सन् 1970 तक के लघुकथा-लेखकों में सुदर्शन, गोयलीय और रावी की लघुकथाएँ 'बोध' तत्त्व से ही मुख्यतः संचालित हैं। इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधित्व के रूप में अयोध्या

प्रसाद गोयलीय को लघुकथाएँ रखी गई हैं। इसी प्रकार प्रेमचन्द की यथार्थपरक धारा, या कहें, प्रेमचन्द स्कूल से प्रेमचन्द और हरिशंकर परसाई की लघुकथाएँ ली गई हैं। इन दोनों की रचनाओं से बीसवीं सदी में हिन्दी लघुकथा के प्रारम्भ और विकास का स्वरूप स्पष्ट होता है। छह लेखकों की सीमा के कारण कुछ लेखकों को संकलन में न रख पाने की हमारी विवशता थी।

सन् 2010 में मैंने 'नींव के नायक' पुस्तक के माध्यम से 29 लेखकों की सन् 1970 तक लिखी 174 लघुकथाओं को सामने लाने का विनम्र प्रयास किया था। अभी इस कालखण्ड की लघुकथाओं पर बहुत-सा कार्य होना बाकी है। 'पड़ाव और पड़ताल' के इस खण्ड में संकलित छह लेखकों के अलावा जयशंकर प्रसाद, सुदर्शन, रामधारी सिंह दिनकर, उपेन्द्रनाथ अश्क, रावी, आनन्द मोहन अवस्थी, शरद कुमार मिश्र 'शरद', श्यामनन्दन शास्त्री आदि का महत्त्वपूर्ण रचनात्मक योगदान रहा है।

वास्तव में भाई मधुदीप ने 'पड़ाव और पड़ताल' को जब पहले खण्ड से आगे बढ़ाने की योजना बनाई, तो मुझे फोन पर कहा—"ऐसा है कि इसके दूसरे और तीसरे खण्ड को बलराम अग्रवाल और तुम दोनों सम्पादित करो और खुद तय कर लो कि कौन दूसरा खण्ड तैयार करेगा, कौन तीसरा।" सच यह है कि इस योजना को लेकर शुरू में मैं थोड़ा सुस्त रहा। फिर मधुदीप ने जो छह लेखकों की सूची मुझे दी, उससे मैं सन्तुष्ट नहीं था। संयोजक मधुदीप ने हालाँकि एकाध लेखक बदलने की बात कही, पर बात बनी नहीं। सम्पादन अगर सम्पादक की मन-पसन्द का न हो, तो सम्पादन के काम से उमंग और आनन्द अलग ही रहते हैं। बहरहाल! किताब आपके हाथों में है।

प्रस्तुत खण्ड में आलेख व समीक्षा के लिए कलमकारों का चयन विभिन्न क्षेत्रों से किया गया है। माधव नागदा प्रतिनिधि लघुकथा-लेखक हैं तथा विज्ञान के प्राध्यापक रहे हैं। उनका लेख 'हिन्दी लघुकथाओं में यथास्थिति का अतिक्रमण' लघुकथा-साहित्य में व्यावहारिक आशावाद की जमीन की तलाश करता है। टिप्पणीकारों में सुरेश यादव बड़े संवेदनशील कवि हैं, डॉ. ओमप्रकाश 'करुणेश' जन-चेतना के प्रगतिशील साहित्यकार-प्रोफेसर हैं, डॉ. राजेन्द्र टोकी कवि-कथाकार-प्रोफेसर हैं, डॉ. सुभाष रस्तोगी मुख्यतः कवि हैं और विष्णु प्रभाकर पर पी-एच.डी. हैं, डॉ. बलवेन्द्र सिंह प्रोफेसर हैं, डॉ. बलराम अग्रवाल लघुकथाकार हैं व लघुकथा पर पी-एच.डी. हैं। अन्त में समावेशी टिप्पणी करनेवाले डॉ. राकेश कुमार प्रखर आलोचक हैं, जिनका लघुकथा विधा में हम स्वागत करते हैं। इन सभी मित्रों-टिप्पणीकारों का सहयोग के लिए मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्त में बिहार के सजग आलोचक श्री वंशीधर सिंह के स्मरण के बिना इस संकलन की बात अधूरी रहेगी। अयोध्या प्रसाद गोयलीय की लघुकथाओं पर टिप्पणी के लिए उन्होंने सहर्ष अनुमति दी थी। किन्तु अभी वे नोट्स ही ले रहे थे, कि दिवंगत हो गए। 'पड़ाव और पड़ताल' की पूरी टीम उन्हें श्रद्धा-सुमन अर्पित करती है।

1882, सेक्टर 13, करनाल-132 001 (हरियाणा) —डॉ. अशोक भाटिया
मो. : 094161 52100
ई-मेल : ashokbhatiahes@gmail.com, ashokbhatiaonline@yahoo.co.in

# हिन्दी लघुकथाओं में यथास्थिति का अतिक्रमण

माधव नागदा

पिछले दिनों जनचेतना की प्रगतिशील मासिक पत्रिका में प्रकाशित एक लघुकथा ने ध्यान आकर्षित किया। लघुकथा इस प्रकार है, 'दीपाली शिकायत करती है—अंकल, मैंने फेसबुक पर इनवाइट किया था मगर आप नहीं आए। अंकल बोले—बेटी, फेसबुक पर मैंने लाइक तो कर ही दिया था।' इस लघुकथा को पढ़कर मुझे इण्टरनेट से ही जुड़ा एक किस्सा याद आ गया, 'मित्र कहता है—मैं रात को तुम्हें मेल भेज दूँगा। इस पर दूसरा मित्र बोलता है—यार, मेल नहीं, फीमेल भेजना।' दोनों में किसे लघुकथा कहें और किसे चुटकुला? इसी प्रगतिशील के अगस्त 13 अंक की दो लघुकथाएँ देखिए। पहली में प्रकृति, विकृति और संस्कृति पर बहस चलती है। साहित्यकार अपने विचार रखते हैं—भूख लगने पर भोजन करना प्रकृति, दूसरे का भोजन छीनकर खाना विकृति और अपना भोजन दूसरे को देना संस्कृति है। बहस के अन्त में एक कवि विचार व्यक्त करता है—कवि के लिए कविता लिखना प्रकृति, अन्य की एक या दो कविता सुनना संस्कृति और अपनी एक के बजाय दस-दस कविताएँ सुनाना विकृति है। दूसरी लघुकथा में एक कविनुमा व्यक्ति के कन्धे से मोटरसाइकिल सवार उचक्का झोला झटककर ले जाता है। जब लोग सान्त्वना प्रकट करने इकट्ठा होते हैं तो कविनुमा व्यक्ति जोर से हँसने लगता है। हँसने का कारण पूछने पर वह कहता है, 'साला गया काम से, झोले में मेरी कविता की डायरी थी।' ऐसी लघुकथाएँ केवल इसी पत्रिका में नहीं बल्कि अन्य पत्र-पत्रिकाओं, संग्रहों-संकलनों में भी प्रकाशित होती रहती हैं। इस प्रकार की लघुकथाएँ यथास्थितिवादी हैं जो न तो पाठक की संवेदनाओं को झकझोरती हैं और न ही उसमें विचारोत्तेजना उत्पन्न करती हैं। ये मनुष्य के संघर्ष को, उसकी परिवर्तनकामी चेष्टा को आवाज नहीं देतीं बल्कि क्षणभर के लिए गुदगुदाकर रह जाती हैं। गुदगुदाना या सिर्फ मनोरंजन करना ही साहित्य का मकसद नहीं है। लघुकथा अपेक्षाकृत नया साहित्यरूप है जो देश, काल और

परिस्थितियों की उपज है। जहाँ पुराने साहित्यरूपों यथा कविता, कहानी, उपन्यास की सीमारेखा आती है वहीं से लघुकथा की भूमिका आरम्भ होती है। नामवर सिंह कहते हैं, "यह धारणा गलत है कि साहित्य के तमाम रूपों में एक ही बात कही जाती है। रूप की विशेषता से वस्तु में भी विशेषता आ जाती है। एक ही साहित्यकार कविता में वास्तविकता का एक पहलू दिखाता है तो उपन्यास में दूसरा, कहानी में तीसरा।...साहित्य के रूप केवल रूप नहीं हैं, बल्कि जीवन को समझने के भिन्न-भिन्न माध्यम हैं। एक माध्यम जब चुकता दिखाई पड़ता है तो दूसरे माध्यम का निर्माण किया जाता है।" लघुकथा-समीक्षक अशोक भाटिया के अनुसार, "किसी एक विधा में जीवन के समग्र यथार्थ को व्यक्त करना सम्भव नहीं है। इसी कारण विभिन्न साहित्यरूपों की खोज होती रही है। जीवन में अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण स्थितियाँ होती हैं, जिन्हें हम जीवन में और कई बार साहित्य में समुचित महत्त्व नहीं दे पाते। कहानी में भी अनेक सूक्ष्म परिस्थितियाँ कहानी के फलक में उपेक्षित रह जाती हैं। कहानी की उपेक्षित स्थितियों को उभारना लघुकथा का क्षेत्र है।"

तो लघुकथा का आविर्भाव महज इसीलिए नहीं हुआ है कि लोगों को गुदगुदाया जाय या समाज में जो है हूबहू वही दिखाया जाय। बेशक साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है, मगर आज के बदले हुए परिवेश में यह एक अधूरी बात है। दर्पण का काम है जैसा है वैसा दिखाना। नंगा है तो नंगा दिखाना। हम यह समझते हैं कि अपनी नंगई देखकर मनुष्य शर्म के मारे वस्त्र धारण कर लेगा। परन्तु आज तो मनुष्य अपने नंगेपन पर भी इतराने लगा है। इसलिए केवल दर्पण दिखाने से काम नहीं चलेगा। आज बिल्लौरी शीशा चाहिए जो बिखरी हुई आग को एक जगह इकट्ठा कर ठस हो चुके इन्सान को बेचैन कर दे। बेलिन्स्की कहते हैं, "यदि कोई कलाकृति केवल चित्रण के लिए ही जीवन का चित्रण करती है, यदि उसमें वह आत्मगत शक्तिशाली प्रेरणा नहीं है जो युग में व्याप्त भावना से निःसृत होती है, यदि वह पीड़ित हृदय से निकली कराह या चरम उल्लसित हृदय से फूटा गीत नहीं, यदि वह कोई सवाल या सवाल का जवाब नहीं तो वह निर्जीव है।" श्रीकृष्ण शर्मा अपनी कविता 'एक अक्षर और' में इसी बात को यों कहते हैं, "और लिक्खो/फिर लिखो तुम/एक अक्षर और/आग से लिक्खो/लिखो तूफान से/या खून से लिखो/कलम से लिखो तुम/या कलम के ईमान से/पर लिखो/विपरीत स्थिति में भी/बड़ी ही शान से/इन अनास्था के क्षणों में/जड़ो तुम फिर/एक आस्थावान प्रस्तर और।" तो कवि शील ललकारते हैं, "उठाओ कलम, सर कलम हो रहे हैं/धुआँधार जुल्मो-सितम हो रहे हैं/समय खो न जाए, गला भर न आए/जगाओ जो दिन में पड़े

सो रहे हैं।"

ऐसी बात नहीं है कि हिन्दी में सारी लघुकथाएँ स्थितियों का फोटोग्राफिक चित्रण मात्र हैं। कई लघुकथाएँ आगे बढ़कर यथास्थिति का अतिक्रमण करते हुए युगसत्य को गहरी संवेदनशीलता या वाजिब आक्रोश के साथ अभिव्यक्त कर रही हैं। ऐसी लघुकथाएँ शिनाख्त की जा सकती हैं जो परिवर्तनकामी हैं, जनसंघर्ष की पक्षधर हैं, विचारोत्तेजक हैं, सार्थक हैं। चित्रा मुद्‌गल के अनुसार, "कलेवर में लघु होने के बावजूद उसका (लघुकथा का) रचनात्मक प्रभाव पाठक के मर्म को गहरे उद्वेलित ही नहीं करता, उसके मानस पर अपना स्थाई प्रभाव भी छोड़ता है।" इस प्रकार की लघुकथाएँ ही सार्थक हैं, यथास्थिति का अतिक्रमण करती हैं, जड़ता को तोड़ सकने में समर्थ हैं।

रघुवीर सहाय की लघुकथा 'नैतिकता-बोध' से बात आरम्भ कर सकते हैं। एक यात्री दूसरे से कहता है, "भाई हमें भी बैठने दो।" मगर दूसरा मना कर देता है, कहता है, "मैं आराम करूँगा।" पहला खड़ा रहता है। दूसरा आदमी बैठा रहता है और देखता रहता है। अचानक वह उठकर जगह देते हुए कहता है, "भाई मुझसे अब बर्दाश्त नहीं होता। आप यहाँ बैठ जाइए।" रघुवीर सहाय ने इस लघुकथा के माध्यम से अनास्था के क्षणों में एक आस्थावान पत्थर जड़ा है। इसका अन्त यों भी हो सकता था कि पहला यात्री खड़ा-खड़ा थककर गैलरी में नीचे बैठ जाता और सहयात्री सीट पर पसरा ही रहता, जैसा कि आज के कई लघुकथाकार अमानवीयकरण की स्थितियों का चित्रांकन करते समय बखूबी कर रहे हैं। लेकिन उस सूरत में लघुकथा साधारण-सी होती, बेअसर और यथास्थिति की पोषक। आप कह सकते हैं कि यह हृदय परिवर्तन की कथा है इसलिए आदर्शवादी है। परन्तु यहाँ देखनेवाली बात यह है कि आदर्श यथार्थ में रचा-बसा है। आदर्श हावी नहीं है, यथार्थ हावी है इसीलिए विश्वसनीयता कहीं से भी खण्डित नहीं होती। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना अपनी एक कविता में कहते हैं कि आपके घर के एक कमरे में लाश पड़ी हो तो आप दूसरे कमरे में पूजा कैसे कर सकते हैं! जब सहयात्री खड़ा है, परेशानी में है तो सीट पर बैठा व्यक्ति ज्यादा देर बर्दाश्त नहीं कर सकता है। अभी तक आम आदमी की संवेदनाएँ इतनी भोंथरी नहीं हुई हैं। वाहन चलाते समय सामने अगर गिलहरी भी आ जाए तो पैर खुद-ब-खुद ब्रेक पर चले जाते हैं। अतः यात्री के भीतर नैतिकताबोध जगना न केवल विश्वसनीय है बल्कि लघुकथा को भी कालजयी बनाता है। यहाँ माधवराव सप्रे की 'एक टोकरीभर मिट्टी' पर भी विचार किया जा सकता है। यद्यपि उस जमाने में लघुकथा जैसी कोई अवधारणा नहीं थी। समीक्षकों की निगाह में यह रचना हिन्दी की पहली कहानी की दौड़ में सम्मिलित

है। आज लघुकथा मीमांसकों ने इसे लघुकथा के रूप में लगभग हथिया लिया है। वैसे भी यदि उस जमाने में लघुकथा शब्द प्रचलन में होता तो 'एक टोकरीभर मिट्टी' के कलेवर और ट्रीटमेण्ट को देखते हुए इसे कहानी नहीं लघुकथा से ही नवाजा जाता। तो यहाँ गरीब वृद्ध विधवा की झोंपड़ी को कब्जानेवाला जमींदार अन्त में झोंपड़ी लौटा देता है। परन्तु झोंपड़ी का लौटाना आकस्मिक नहीं है। यद्यपि यहाँ आदर्शवाद 'नैतिकताबोध' की अपेक्षा स्थूल है परन्तु जमींदार का हृदय परिवर्तन अस्वाभाविक नहीं लगता। झोंपड़ी वृद्ध विधवा के गिड़गिड़ाने पर नहीं लौटाई जाती, बल्कि वह ऐसा कटाक्ष करती है जो जमीदार के अन्तस में कटार की तरह जा लगता है। वृद्धा कहती है, 'महाराज! नाराज न हों, आपसे तो एक टोकरीभर मिट्टी नहीं उठाई जाती और इस झोंपड़ी में तो हजारों टोकरियाँ मिट्टी पड़ी है। उसका भार आप जन्म-भर क्योंकर उठा सकेंगे? आप इस बात पर विचार कीजिए।' इस कथन से जमींदार की आँखें खुल जाती हैं।

आज कई लघुकथाकार आदर्श को यथार्थ के लिए घातक समझते हैं। वे अन्तर्विरोधों की निर्मम चीर-फाड़ तो करते हैं, परन्तु दुनिया कैसी हो, इसकी तरफ इशारा नहीं करते। वस्तुतः जिस रचना में आदर्श यथार्थ के साथ रच-पचकर, एकमेक होकर अभिव्यक्त होता है, वह दिशापरक होता है। ऐसी रचना समाज का दर्पण न होकर समाज का दीपक होती है। तात्पर्य यह कि यथार्थ थोपा हुआ न हो बल्कि 'नैतिकता-बोध' की तरह लघुकथा में से ही उपजे। डॉ. सुरेश सिन्हा कहते हैं, "आदर्शवादी दृष्टिकोण को साहित्य से बर्खास्त करने के प्रश्न पर पुनर्विचार की आवश्यकता है क्योंकि आदर्शवाद हमारी सभ्यता, संस्कृति एवं नैतिक मान्यताओं के ठोस धरातल पर खड़ा है और जो साहित्य मूल्य-मर्यादारहित है, आदर्शच्युत है, वह हमारे लिए मूल्यहीन है। प्रत्येक शाश्वत साहित्य किसी उच्च आदर्श को सामने रखकर ही रचा जाता है और तभी उस साहित्य का कोई मूल्यान्वेषण हो सकता है।...वास्तव में श्रेष्ठ साहित्य की रचना आदर्श एवं यथार्थ के परस्पर मेल से ही हो सकती है।" लघुकथाकार सुरेन्द्र गुप्त के अनुसार, "यथातथ्य चित्रण से रचनाकार समाज को कुछ दे पा रहा है या केवल अपने मन की भड़ास निकाल रहा है? रचनाकार का सृजन समाज-सापेक्ष होना चाहिए। समाज को उससे कुछ अपेक्षाएँ हैं। वह ऐसी रचनाएँ दे, जो कहीं-न-कहीं लोकरंजन के दायरे में आती हों और सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की अभिव्यक्ति को मुखरित करती हों। मेरे विचार में सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् ही गिरते मूल्यों का सर्वोत्तम विकल्प हो सकता है। रचना यदि आदर्शोन्मुखी होगी तो कहीं ज्यादा प्रभावशाली होकर कालजयी रचना का रूप ले सकती है। लेकिन उसके साथ एक बात निर्विवाद रूप से जुड़ी हुई है कि रचना

अपनी विश्वसनीयता की सत्यता को बराबर बनाए रखे।"

युगल का लघुकथा-संग्रह 'फूलोंवाली दूब' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। संग्रह की लघुकथाएँ, लेखक के शब्दों में 'साम्प्रदायिक सौहार्द के कोलाज हैं।' दीवार, मन-गंगा, कर्फ्यू की वह रात आदि अनेक लघुकथाएँ व्यावहारिक आदर्शों पर समाप्त होती हैं।

पवन शर्मा की 'कुन्दन' लघुकथा में पुश्तैनी मकान को बचाने के लिए पत्नी अपने गहने बेच देने का प्रस्ताव रखती है। उससे पति की बेचैनी देखी नहीं जाती। वह रात को बारह बजे तक करवटें बदलता रहता है क्योंकि पिताजी की चिट्ठी आती है कि मकान छुड़वाने के लिए बारह हजार रुपयों की तत्काल जरूरत है, मियाद जो पूरी हो गई है। अब कहाँ से लाए इतने रुपए? पति की मनःस्थिति बताने के लिए लाल रंग के बल्ब का प्रभावी प्रतीक लिया गया है जिससे लघुकथा सपाट होने से बच गई है। प्रारम्भ में पति को यह लाल रंग कमरे में बिखरे सुर्ख खून की तरह लग रहा था। किन्तु जब पत्नी उसके सिर का बोझ हल्का कर देती है तो, 'लाल रंग के जीरो वाट के बल्ब में उसे अपनी पत्नी का चेहरा कुन्दन की भाँति चमकता दिखाई देता है।' यदि पत्नी गहने बेचने का प्रस्ताव नहीं रखती तो यह लघुकथा भी पारिवारिक रिश्तों के विघटन की उन सैकड़ों लघुकथाओं की तरह हो जाती जो कि आज धड़ल्ले से लिखी जा रही हैं।

'जगमगाहट' (रूप देवगुण) की भुक्तभोगी लड़की बॉस लोगों की वासनात्मक दृष्टि के चलते दो-दो बार नौकरी छोड़ चुकी है। तीसरी बार उसने तय कर लिया कि वह भागेगी नहीं वरन् सामना करेगी। यहाँ भी वह बॉस के व्यवहार को लेकर हरदम सशंकित रहती है। एक दिन बॉस जब उसे फाइलें देखने रिकॉर्ड-रूम/ में बुलाता है तो उसकी आशंका विश्वास में बदल जाती है। घोर एकान्त। इतने में लाइट चली जाती है। अब तो अनर्थ होनेवाला ही है। जैसे ही बॉस छूने की कोशिश करेगा कि वह चिल्ला पड़ेगी। लेकिन उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता जब बॉस कहता है, "देखो, तुम्हें अँधेरा अच्छा नहीं लगता होगा। तुम्हारी भाभी (बॉस की पत्नी) को भी अच्छा नहीं लगता। जाओ, तुम बाहर चली जाओ।" यह लघुकथा बनी-बनाई धारणा पर प्रहार करते हुए बताती है कि सारे मर्द एक जैसे नहीं होते। सतीश दुबे की 'लास्ट लेसन', रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु' की 'ऊँचाई', मुरलीधर वैष्णव की 'रोंग नम्बर', रामकुमार घोटड़ की 'छत्रछाया', सतीशराज पुष्करणा की 'मन के साँप' में रिश्तों की गरमाहट आश्वस्तिकारी और समाज के लिए दिशापरक है। मधुदीप की 'ऐसे' लघुकथा भी रेखांकित करने योग्य है जिसमें दो मित्र जिन्दगी से इस कदर नाराज हैं कि आत्महत्या करने का निर्णय

लेते हैं। मगर तरीका क्या हो? इसी उधेड़बुन में एक मित्र इस नतीजे पर पहुँचता है कि मरना ही है तो जिन्दगी से लड़कर क्यों न मरें। यही वह बिन्दु है जहाँ से दोनों पुनः जिन्दगी की दौड़ में सम्मिलित हो जाते हैं।

बलराम अग्रवाल की 'गो-भोजन कथा' एक साथ कई मोर्चों पर खड़ी दिखाई देती है। यह लघुकथा कई तरह के अन्तर्विरोधों की ओर इशारा करते हुए उत्तरोत्तर संवेदनात्मक रूप से सघनतर होती हुई मानवीय करुणा के एक ऐसे बिन्दु पर समाप्त होती है कि पाठक का मन भीग जाता है। इस छोटी-सी रचना में कई प्रसंग यादगार बन पड़े हैं। पति इन्दर द्वारा बशीर की गाय को पूजने का प्रस्ताव रखने पर माधुरी के मुँह से 'छिः' निकलना एक अक्षर में पूरे युगसत्य का उद्‌घाटन है। फिर इन्दर का यह रहस्योद्‌घाटन कि बशीर की मौत दंगे में इस गाय को बचाते हुए ही हुई थी—हमारी बद्धमूल धारणा पर अचूक प्रहार है। अन्त में बशीर के यहाँ गो-भोजन के लिए पहुँची माधुरी द्वारा भोजन सामग्री गाय को खिलाने की बजाय खस्ताहाल जिन्दगी जी रही बशीर की गर्भवती बेवा को सौंप देना स्त्री में समाई सहज करुणा का मर्मस्पर्शी बिन्दु है जिससे सन्देश मिलता है कि जाति, धर्म और सम्प्रदाय से भी बड़ी चीज मानवीय संवेदनाएँ हैं। सुरेश शर्मा की 'मानव धर्म' भी मानवता की मिसाल पेश करते हुए 'गो-भोजन कथा' के बशीर प्रसंग की तरह मुसलमानों के प्रति पूर्वाग्रह को दूर करती है। आज हमारे देश में राख के नीचे साम्प्रदायिकता की चिंगारियाँ सुलग रही हैं। राजनेता इसे हवा देने में लगे हैं। यह साहित्यकार बिरादरी ही है जो एकता और भाईचारे के लिए चिन्तातुर है। वह अपने लेखन से अनवरत ठण्डे पानी के छींटे डाल रही है। लघुकथाकार भी इस मुहिम में अग्रसर हैं। विष्णु प्रभाकर की 'पानी की जाति', फ़ज़ल इमाम मल्लिक की 'मुसलमान', कमल चोपड़ा की 'बाँह-बेली', रमेश बतरा की 'सूअर', किशोर काबरा की 'ईद मुबारक', अम्बिकादत्त की 'बीच का दिन' लघुकथाएँ हमारी कण्डीशण्ड हो चुकी मानसिकता पर प्रहार करती हैं।

यहाँ सुकेश साहनी की 'मेंढकों के बीच' उल्लेखनीय है जो शिल्प की बारीक बुनावट और विचार की ताजगी के चलते साम्प्रदायिकता विषयक दसियों लघुकथाओं में अलग ही प्रभाव छोड़ती है। अभी तक यह होता रहा है कि लघुकथाओं में मुसलमान को अच्छा दिखाने के लिए दंगों में हिन्दू को बचाते हुए तो हिन्दू को अच्छा बताने के लिए मुसलमान की मदद करते हुए दिखाया गया है। परन्तु सुकेश साहनी बहुत आगे जाते हुए मानवीय संवेदनाओं के मामले में जाति या सम्प्रदाय के प्रश्न को ही खारिज कर देते हैं। वे लघुकथा के माध्यम से यह स्थापना देते हैं कि ऐसा सवाल उठाना भी एक तरह से साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का द्योतक है। नाले

में गिरी गाय को बचानेवाले आदमी के सन्दर्भ में पिता अपने पुत्र से कहता है, "बेटा, मुझे इतना ही पता है कि वह एक अच्छा आदमी था...वह हिन्दू था या मुसलमान यह जानने की कोशिश मैंने नहीं की, क्योंकि तुम्हारे दादाजी ने मुझे बचपन में ही सावधान कर दिया था कि जिस दिन मैं इस चक्कर में पड़ूँगा उसी दिन आदमी से मेंढक में बदल जाऊँगा।" कहना न होगा कि यहाँ मेंढक साम्प्रदायिक मानसिकता का प्रतीक है। लघुकथा की सार्थकता इसमें है कि पिता से कहानी सुनने के पश्चात् बच्चा 'मेंढकों' से दूर रहने लगता है।

सुभाष नीरव की लघुकथा 'बारिश' यथास्थिति के अतिक्रमण का एक आदर्श उदाहरण है। एक प्रेमी-युगल बारिश से बचने के लिए झोंपड़ी में शरण लेता है। झोंपड़ी का वृद्ध मालिक उन्हें स्थान और अवसर मुहैया कराते हुए स्वयं बाहर निकल जाता है और तेज बारिश में भीगने लगता है। यह देख लड़की रोमानी हो चुके अपने प्रेमी को बाहर खींच लाती है, "वो बूढ़ा देखो कैसे मजे से बारिश का आनन्द ले रहा है और हम जवान होकर भी बारिश से डर रहे हैं।" दोनों नाचने-झूमने लगते हैं। बूढ़े की स्मृति में बचपन घुमड़ जाता है। वह भी लड़के-लड़की के संग-संग बरसती बूँदों को चेहरे पर लपकते हुए थिरकने लग जाता है। इस तरह अन्त तक आते-आते यह लघुकथा आनन्द और प्रेम का मधुर संगीत बनकर उभरती है। सुभाष कहते हैं, "जो यथार्थ मैं अपने आस-पास देख रहा हूँ उसको हूबहू पेश करना ही मेरा काम नहीं है, उसे रचनात्मक यथार्थ में ढालने की कवायद भी मुझे करनी पड़ेगी।"

कुछ ऐसा ही प्रभाव अखिल रायजादा की 'पहला संगीत' में हैप्पी बर्थडे टू यू सुनते हुए पड़ता है। गोद में बच्चा थामे भिखारी लड़की भीख माँगना स्थगित करते हुए कथानायक के पास नया गिटार देखकर कहती है, 'आज मेरे भाई का जन्मदिन है, हैप्पी बर्थडे बजा दो न।' लोकल ट्रेन के सहयात्री उस समय आश्चर्य में पड़ जाते हैं जब वह गिटार पर धुन बजाता है और भिखारी लड़की का छोटा भाई गोद से उतरकर मस्ती से नाचने लगता है। अगर कथानायक धुन बजाने की बजाय उसे दुत्कारकर भगा देता, या भीख देकर रवाना कर देता तो लघुकथा निष्प्रभ हो जाती। कहने का तात्पर्य यह कि सृजनात्मक चेतना और मानवीय संवेदनाओं से सम्पृक्त दृष्टिवान लेखक स्थितियों को, रेखांकित करने योग्य महत्त्वपूर्ण रचना में ढाल देता है।

हिन्दी कहानी में आज नारी विमर्श काफी हद तक देह विमर्श तक सिमटकर रह गया है। परन्तु लघुकथाओं में कई सचेत लेखकों ने देह के पार जाकर नारी के भीतर समाई उस परिवर्तनकामी शक्ति को पहचाना है जो तमाम रूढ़ियों से ऊपर

उठकर अपने अस्तित्व का अहसास कराने को कटिबद्ध है। इस सन्दर्भ में 'फूली' (भगीरथ) की फूली, 'श्राद्ध' (अशोक भाटिया) की दयावती, 'अशुभ दिन' (पवित्रा अग्रवाल) की बहू, 'बहू का सवाल' (बलराम) की भाभी रूढ़ मान्यताओं के खिलाफ दृढ़तापूर्वक खड़ी दिखाई देती हैं। ये पात्र न केवल अन्धविश्वास के विरुद्ध सशक्त नारी स्वर के रूप में मुखरित हुए हैं बल्कि पुरुष वर्चस्ववादी सड़ी-गली परम्पराओं का सफलतापूर्वक अतिक्रमण करते हैं। इसलिए इन लघुकथाओं की सार्थकता और भी बढ़ जाती है। मसलन अशोक भाटिया की 'श्राद्ध' लघुकथा में दयावती जिस समझदारी से रूढ़ मान्यताओं के खिलाफ जो ठोस कदम उठाती है वह बहुत आश्वस्तिकारी है। माँ पिताजी का श्राद्ध करना चाहती है। नहीं करेगी तो मोहल्लेवाले ताने मारेंगे, बाबू की आत्मा कोसेगी। दूसरी ओर भाई को दो दिन से तेज बुखार है। पैसे सीमित हैं। इनसे श्राद्ध करें या भाई को बचाएँ? माँ श्राद्ध के पक्ष में है। किन्तु दयावती दृढ़तापूर्वक कहती है कि भाई को बचाना जरूरी है। वह माँ से चुभता हुआ सवाल करती है, "ये बता इसमें आत्मा नहीं?" यह सवाल माँ से नहीं बल्कि पूरे समाज से है। अन्त में दवा की पर्ची लेकर दयावती को मजबूत कदमों से बाहर निकलते हुए बताया गया है जो कि आज की करवट बदल रही नारी के मजबूत इरादों का द्योतक है। इसी प्रकार 'काहे का मरद' (पवित्रा अग्रवाल) की कमलम्मा भी दोहरे स्तर पर संघर्ष करती हुई अपना रास्ता स्वयं तलाशती है। वह अपने मर्द की तानाशाही का मर्दन तो करती ही है, जातिगत ऊँच-नीच को भी दरकिनार कर देती है। जातिगत पाखण्ड पर करारा प्रहार करते हुए ठाकुरों के होश ठिकाने लगा देनेवाली चित्रा मुद्गल की रतिया डोम (नाम) को भला कोई लघुकथा-प्रेमी कैसे भूल सकता है!

वस्तुतः जीवन में सब-कुछ सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् ही नहीं है। जीवन इकरंगा नहीं बल्कि चटख और धूसर रंगों का मिश्रण है। यहाँ सुख कम और दुःख अधिक हैं। खुशियों का दरवाजा सरलता से नहीं खुलता। इन्हें पाने के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ता है। इसके बावजूद हमारे समाज की एक बड़ी आबादी खुशियों से महरूम है। हम जानते हैं कि सच्चे और मेहनतकश लोगों को वह सब हासिल नहीं हो पाता जो इतर हथकण्डे अपनानेवाले पा लेते हैं। ऐसी जटिल परिस्थितियों में हम अगर लघुकथा से उम्मीद करें कि वह सिर्फ आदर्शवादी हो, सकारात्मक हो, या सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् को चित्रित करनेवाली हो तो यह इस विधा के साथ ज्यादती होगी। एकरसता किसी भी विधा के लिए घातक है। विविधता में ही जीवन्तता है। जैसा कि प्रारम्भ में बेलिन्स्की को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि सार्थक रचना वह होती है जो आपको बेचैन कर दे, विचारोत्तेजक हो, जो आपके

मन में सवाल खड़े करे या किसी सवाल का जवाब हो। जब सवाल खड़े होंगे तभी व्यक्ति उनके जवाब ढूँढना आरम्भ करेगा और तभी उसकी जड़ता टूटेगी। इस तरह पाठकों की जड़ता पर प्रहार करनेवाली लघुकथाओं को भी यथास्थिति का अतिक्रमण करनेवाली रचनाओं की श्रेणी में रखा जा सकता है। जैसे कि भूपिन्दर सिंह की छोटी-सी लघुकथा 'रोटी का टुकड़ा'। दरअसल यह लघुकथा जातिवाद के ताबूत में अन्तिम कील की तरह है। इस कथा का वह अंश देखिए जब बच्चा भरपेट मार खा लेने के पश्चात् भोलेपन के साथ कहता है, "माँ, एक टुकड़ा उनके घर का खाकर क्या मैं भंगी हो गया?"

"और नहीं तो क्या?"

"और जो काकू भंगी हमारे घर पर पिछले दस सालों से रोटी खा रहा है वह क्यों नहीं 'बामन' हो गया?" बच्चे ने पूछा।

बच्चा शताब्दियों की आँखों में आँखें डालकर यह सवाल करता है और हम तिलमिलाकर रह जाते हैं।

पारस दासोत की 'सुनो लघुकथा' की मामी बच्चों को कहानी (लघुकथा) सुनाने के पश्चात् खुश है कि इसे सुनकर बच्चे प्रश्नाकुल हो उठे हैं। प्रश्नाकुलता ही परिवर्तन की ओर पहला कदम है। कई लघुकथाएँ ऐसी हैं जो हमें बेचैन कर देती हैं और हमारी स्मृति का अमिट हिस्सा बन जाती हैं, जैसे प्रेमचन्द की 'बाबाजी का भोग', श्यामानन्द शास्त्री की 'धरती का काव्य', रावी की 'भिखारी और चोर', आनन्द हर्षुल की, 'पहरे पर सन्तरी', महावीर उत्तरांचली की 'सरहद', आनन्द की 'धरोहर', विकेश निझावन की 'उसका दर्द', युगल की 'नुचे पंखोंवाली चिड़िया' आदि। यथास्थिति का अतिक्रमण करनेवाली और भी कई लघुकथाएँ हो सकती हैं, यहाँ केवल बानगीभर दी गई है। एक विचार दिया गया है कि जहाँ और भी हैं। केवल घटना के वर्णन में नहीं बल्कि उसमें समाहित संवेदना और विचार के प्रभावी सम्प्रेषण से ही सशक्त लघुकथा सामने आ सकती है। शिल्प भी आवश्यक है लेकिन शिल्प का घटाटोप न हो। इस दृष्टि से आनन्द की 'धरोहर' उल्लेखनीय है। यहाँ शिल्प, संवेदना और विचार का श्रेष्ठ समन्वय है। इसी प्रकार युगल की 'नुचे पंखोंवाली चिड़िया' अपनी संवेदनात्मक धार के चलते हमें भीतर तक छील देती है। यह स्त्री के दर्द को ही नहीं बल्कि बेरोजगारी से आजिज आ चुके युवक की मानसिक पीड़ा और ऊहापोह को भी बड़ी शिद्दत के साथ अभिव्यक्त करती है। साथ ही बहुत बड़ा सवाल खड़ा करती है कि क्यों आजाद भारत में भी एक पढ़े-लिखे व्यक्ति को अपनी पत्नी की इज्जत किसी होटल में गिरवी रखती पड़ती है, होटल भी अपने दोस्त की, इससे ज्यादा त्रासद स्थिति और क्या हो सकती है!

यह आलेख एक शुरुआत भर है। उम्मीद है कि लघुकथा-चिन्तक इस विचार को और भी सार्थक दिशा देते हुए आगे बढ़ाएँगे। ●

सम्पर्क : गाँव व डाकखाना : लालमादड़ी
वाया नाथद्वारा, जिला राजसमन्द-313 301 (राजस्थान)
मो. : 098295 88494

# पड़ाव

## *अयोध्या प्रसाद गोयलीय*

जन्म : सन् 1902 ई.

जन्मस्थान : गाँव बादशाहपुर, जिला गुड़गाँव (हरियाणा)

प्रकाशित कृतियाँ : भाव-कथाएँ, बोधात्मक कथाएँ, संस्मरणात्मक कथाएँ तथा लघुकथाएँ 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' (1955 ई.), 'कुछ मोती कुछ सीप' (1957) तथा 'गहरे पानी पैठ' (1959 ई.)। उर्दू शायरी के भी चार संग्रह

निधन : सन् 1975 ई.

### संकलित लघुकथाएँ

इन्सानियत, हृदय परिवर्तन, शाने-मुफलिसी, गधे का विश्वास, इतवारवाले बाबूजी, नादिहन्द, सहृदयता का मूल्य, एक वे भी मुसाफिर थे, मित्र के लिए, लातों के भूत, प्रतिज्ञा न लेने की प्रतिज्ञा

# इन्सानियत

दिल्ली के सदर बाजार इलाके में म्युनिसिपल चुनाव बहुत खतरनाक होते हैं। दस-बीस के सिर फूट जाना तो मामूली बात है। अमन-चैन बनाए रखने के लिए मशीनगनें और घुड़सवार पुलिस भी घूमती है; फिर भी खून हो जाते हैं। पक्ष-विपक्ष की ओर से पचास-साठ हजार रुपयों पर पानी फिर जाना बड़ी बात नहीं। चुनाव के दिनों में ही संघर्ष नहीं होते, उसके बाद भी दाँव-पेंच चलते रहते हैं और विजयी-विजित दोनों ही अपने-अपने रियाज बढ़ाते रहते हैं। इन चुनावों का घातक परिणाम यह हुआ है कि सदर बाजार के निवासियों का दैनिक जीवन विषम बन गया है, और आपस का संगठन छिन्न-भिन्न हो गया है। फिर भी एक घटना मानवोचित है।

इसी इलाके में एक विजेता सदस्य के पास दूसरे शहर के कोई परिचित महाशय आए और इनसे विरोधी पक्ष के सम्बन्ध में पूछा, “क्यों साहब, आप लाला...को जानते हैं?”

“बहुत अच्छी तरह, फर्माइए क्या बात है?”

“वे अपनी लड़की का रिश्ता हमारे यहाँ करना चाहते हैं।”

“अवश्य लीजिए, वे हमारे यहाँ के अत्यन्त सम्भ्रान्त और प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं; और उनकी कन्या तो मेरी लड़की की सहेली है; बड़ी सुशील और देवी जैसा रूप!”

बारात आई, मगर सिफारिश करनेवाले दिखाई नहीं दिए। बेटेवाले का अनुमान था कि शादी में वही कर्त्ता-धर्त्ता होंगे। जब विदा के वक्त भी न मिले तो बेटीवाले से पूछा, “क्यों साहब, मि...दिखाई नहीं दिए? क्या कहीं बाहर तशरीफ ले गए हैं?”

“उनके-हमारे राहो-रस्म बन्द हैं।”

“हैं?”

“जी, इलेक्शन्स की वजह से वे हमारे जानी दुश्मन हैं।”

“यह आपका खाम खयाल है।”

"नहीं साहब, आपको धोखा हुआ है, हम तो एक-दूसरे की शक्ल से नालाँ हैं।"

"बेशक, आपका फर्माना बजा है, तब तो मुझे जरूर धोखा दिया गया है।"

"बात क्या है साहब, साफ-साफ फर्माइए न?"

"क्या साफ-साफ अर्ज करूँ और क्या न करूँ? अगर आपसे उनकी दुश्मनी थी, तो आपसे बदला चुकाते। मैंने उनका क्या बिगाड़ा था, जो मुझसे यह फरेब किया?"

"माजरा क्या है हुजूर, कुछ मैं भी तो सुनूँ?"

"अरे साहब, उन्हीं के विश्वास पर तो मैंने रिश्ता लिया, लड़की तक नहीं देखी। भगवान् खैर करे...?"

"खैर, उस विश्वास में तो अन्तर नहीं पड़ेगा, लड़की आपकी आशा के अनुरूप ही होगी। लेकिन मि...इतने सहृदय और नेक इन्सान हैं, यह मुझे मालूम न था।" ●

('जिन खोजा तिन पाइयाँ' से, 1951)

# हृदय परिवर्तन

एक बार रेल के सफर में हृदय परिवर्तन सम्बन्धी प्रसंग चल निकला तो एक थानेदार ने अपने जीवन की घटना इस प्रकार सुनाई—

मेरे पड़ोस में एक भिखारी भीख माँग रहा था। पड़ोसी ने दुत्कार दिया तो वह मेरे मकान से गुजरा। मुझे उसकी हालत पर रहम आ गया। मैंने आवाज देते हुए कहा, "बाबा ठहरो, खाना भेजता हूँ।"

मगर वह मेरी आवाज को अनसुनी करके बढ़ता गया। मैंने समझा, उसने सुना नहीं है। अतः नौकर को रोटी दे आने को भेजा। मगर उसने रोटी लेने से इन्कार कर दिया। नौकर ने आग्रह किया तो उसने जवाब दिया, "जो लोग रिश्वत लेते हैं, मैं उनके यहाँ का अन्न-जल ग्रहण नहीं करता।"

नौकर उसे गालियाँ बकता चला आया और मुझे भी उसके वे जुमले सुनाए। मैं तो सुनकर कट-सा गया। थानेदार की कोई इस तरह उपेक्षा करे और वह भी दर-दर का भिखारी! मन आत्मग्लानि और क्षोभ से भर-सा गया। रह-रहकर कभी अपने पर, कभी नौकर पर और कभी उस भिखारी पर ताव आने लगा।

ऐसे गधे को गुलकन्द दिखाया ही क्यों जाए, जो उसे देखकर 'आँख फोड़ दी, आँख फोड़ दी' चिल्ला पड़े। क्या जरूरत थी धन्नासेठ बनने की, और अगर मुझसे गलती हो भी गई थी तो यह कम्बख्त नौकर उसे रोटी देने चला क्यों गया? किसी बहाने काम में लग जाता, बात आई-गई हो जाती, और चला भी गया था, तो जो उस दीवाने ने कहा, उसे मुझसे कहने की क्या जरूरत थी? और उस मंगते की शान तो देखो, भीख के टूक और बाजार में डकार।

इसी रिश्वत की बदौलत पत्नी बलाएँ लेती है, साहबजादे नवाब बने फिरते हैं, यारों का जमघट लगा रहता है, बिरादरी और रिश्तेदारियों में आव-भगत होती है। रिश्वत न लूँ तो कोई कौड़ी के तीन-तीन भी न पूछे। जो वेतन मिलता है, उसमें तो पान-सुपारी का खर्च भी न चले। रिश्वत छोड़ दूँ तो फिर बीवी-बच्चों के गुलछर्रे, ऑफिसर्स की डालियाँ, बिरादरी के चन्दे, रिश्तेदारी के लेन-देन सब किस बिरते पर चल सकेंगे?

दिल में कई रोज तक उथल-पुथल मची रही। कभी रिश्वतखोरी के गुनाह आँखों के सामने फिरने लगते, कभी वह भिखारी अँगूठा दिखाता हुआ-सा नजर पड़ता और कभी बीवी-बच्चों की मासूम शक्लें रोती-सी दिखाई देतीं।

न जाने एक रोज क्या हुआ, मैं रिश्वत न लेने की कसम खा बैठा। अपने-पराए सभी धीरे-धीरे दुश्मन बनते गए। ऑफिसर्स को नजरो-नियाज न पहुँचा सका, इसीलिए तरक्की भी बन्द हो गई। दिल कुछ दिनों तो बेहद घबराया, मगर आत्मा को न जाने कैसे बल मिलता ही गया और इष्ट-मित्रों के समझाने के बावजूद भी अपने निश्चय पर अटल बना रहा। फिर तो वह आत्मसुख मालूम होने लगा, जिसके समक्ष सात बादशाहत भी हेच हैं।

एक वर्ष के बाद फकीर ने दरवाजे पर सदा लगाई। जाकर देखा तो वही भिखारी था, मुझे देखते ही बोला, "दाता, रोटी दे। बहुत भूखा हूँ।"

मैंने कहा, "हम तो रिश्वत लेते हैं बाबा, हमारे यहाँ का अन्न-जल कैसे ग्रहण करोगे?"

वह हँसकर बोला, "तुम रिश्वत नहीं लेते देवता, मैं आज तुम्हारा नमक खाकर अपने शरीर को पवित्र करूँगा। तुम्हारे जैसे सन्तोषी जीव की चरण-रज लगाने से ही मेरी मुक्ति होगी..."

मैंने झुककर उस दिव्य द्रष्टा के पाँव पकड़ लिए।

उक्त घटना सुनकर मैं खो-सा गया, फिर जी न चाहा कि किसी से बात करूँ। इस भ्रष्टाचार के युग में और वह भी ऐसे भ्रष्ट महकमे में ऐसे सन्तोषी व्यक्ति मौजूद हैं! मन श्रद्धा से भर गया। ●

('जिन खोजा तिन पाइयाँ' से, 1951)

# शाने-मुफलिसी

दिसम्बर 1941 ई. की बात है, हम चार-पाँच साथी मद्रास से दिल्ली जा रहे थे। मद्रासी भोजन के अभ्यस्त न होने के कारण करीब चौबीस घण्टे निराहार रहकर भूख का लुत्फ उठाते रहे। लतीफे कहते, करवटें बदलते, अखबार पढ़ते और निर्दिष्ट स्टेशन पर यथारुचि भोजन मिलने की कल्पना के मजे लेते हुए वर्धा या नागपुर के स्टेशन पर पहुँचे। गाड़ी अभी पूरी तरह ठहरने भी न पाई थी कि चार-पाँच थालों का ऑर्डर दे दिया गया।

उन दिनों नागपुर या वर्धा से रेस्टोराँ बोगी लगती थी। जिसमें सम्भवतः बारह आने में शुद्ध और स्वादिष्ट भोजन का थाल मिलता था। मारवाड़ी ब्राह्मण भोजन बनाता था। तब तक न तो आज की तरह वनस्पति घी का सर्वव्यापी प्रचार हो पाया था और न युद्ध-जनित महँगाई विशेष बढ़ने पाई थी।

हमारे सामने की सीट पर एक सज्जन और बैठे हुए थे, जो हमारी तरह मद्रास से निराहार यात्रा कर रहे थे। सभ्यतावश हमने उनके लिए भी थाल मँगाना चाहा, परन्तु उन्होंने नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया और गाड़ी ठहरने पर प्लेटफॉर्म पर चले गए। मैंने समझा कि धार्मिक दृष्टि से थाल नहीं मँगवाया है और प्लेटफॉर्म पर अपनी रुचि की मिठाई-पूरी आदि खाने गए हैं।

खाना खाने के बाद हाथ-मुँह धोने को मैं जो नीचे उतरा तो वे यूँ ही प्लेटफॉर्म पर घूमते हुए नजर आए। मैं पास जाकर बोला, "अरे साहब, आप यह क्या जुल्म कर रहे हैं। न आपने थाल मँगाने दिया, न आपने अभी तक स्टेशन पर ही कुछ खाया। जल्दी से खा-पी लीजिए। ट्रेन छूटने में विलम्ब नहीं है।"

"मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है, मैं कुछ भी नहीं लूँगा।"

"आप भी खूब हैं। तबीयत क्या खराब है? भोजन न करने से और भी खराब हो जाएगी। चौबीस घण्टे का अभी और सफर करना है। भोजन न करना चाहें तो दूध, फल, लेमन आदि जो मिजाज चाहे ले लीजिए।"

मुझे भोजन के लिए ब-जिद देखकर सकुचाते हुए बोले, "आपसे अब क्या छिपाऊँ। मैं आपके बराबर बैठने योग्य नहीं। इन अच्छे कपड़ों से आप मुझे भी

कुलीन और शिक्षित समझ रहे हैं। लेकिन मैं तो रेलवे के फलाँ ऑफिसर का चपरासी हूँ। छुट्टी जाते हुए वे मुझे दिल्ली से मद्रास तक ले गए थे। मद्रास पहुँचते ही उनकी ट्रेन जा रही थी, किसी तरह उनको सवार कराया। जल्दी में अपना बटुआ भी उनके बक्स से न निकाल पाया कि ट्रेन छूट गई। शुक्र है कि मेरा रेलवे पास मेरे पास था वर्ना दिल्ली पहुँचना मुश्किल हो जाता।"

मैंने स्नेहपूर्वक कहा, "भाई यह तुमने व्यर्थ का तकल्लुफ किया। सफर जब एक साथ कर रहे हैं, तब कौन छोटा, कौन बड़ा और तुमने हमको ही कैसे कुलीन और शिक्षित समझ लिया? मद्रास से साथ आ रहे हो। हम खाना खा लें और तुम अड़तालीस घण्टे भूखे रहो, यह तो हम पर जुल्म है। तुम सीधे रेस्टोराँ बोगी में चले जाओ और मनपसन्द का भोजन कर आओ। अब अपने ही डिब्बे में थाल मँगाने का समय नहीं रहा है।"

यह कहकर मैंने बहुत आजिजी के साथ एक रुपया उसकी जेब में डाल दिया और कहा कि मेरे सिवा इसका आभास तक दूसरों को न होने पाएगा। पहले तो उसने काफी हील-हुज्जत की, परन्तु मेरे अनुरोध पर चुप हो गया।

मैं अपने डिब्बे में आ गया और आश्वस्त हो गया कि वह भोजन करने बोगी में चला गया है। मुझे बेहद आत्मसन्तोष हुआ कि एक स्वाभिमानी को बा-इज्जत भोजन करा सकने में सफल हुआ। अगले स्टेशन पर वह भी डिब्बे में आ गया और हम सबने घुल-मिलकर दिल्ली तक आराम से सफर किया।

दिल्ली प्लेटफॉर्म पर उतरकर हम जब बाहर चलने को उद्यत हुए तो वह चुपचाप मेरे पास आया और मेरी जेब में रुपया डालकर मुझे इस तरह देखने लगा कि गोया उसकी मुफलिसी की आबरू मेरे हाथ में है। मैं तनिक भी कुछ कहूँगा तो उसकी निधि चौड़े में लुट जाएगी। मैं अब भला उससे क्या कहता! मन-ही-मन मैं खीझ उठा। कम्बख्त ने अपनी तनिक-सी आन-बान के पीछे सफर का समस्त आनन्द चौपट कर दिया। उसकी तरफ मैंने देखा भी नहीं और कुली पर सामान उठवाकर हम लोग बाहर आ गए। ताँगे में बैठने पर कुली को वही रुपया थमा दिया जो चपरासी ने जेब में डाल दिया था।

कुली ने पुनः वह रुपया मुझे वापस दे दिया तो मुझे वहम हुआ कि रुपया खोटा है। अतः घबराकर मैंने उस रुपए को देखा कि कहीं मैंने उस चपरासी को खोटा रुपया तो नहीं दे दिया था। शायद नहीं चलने की वजह से ही उसने वापस कर दिया होगा। भला वह गरीब भी अपने मन में क्या सोचता होगा। रुयया देखा तो खराब न था। लौटाने का कारण पूछा तो कुली बोला, "हुजूर, मेरे पास वापस देने को रेजगारी नहीं है।" वह इतना कहने भी न पाया था कि न जाने मुझे क्या

हुआ? ताव में भरकर बोला, "बड़े अफलातून बनते हो। रेजगारी नहीं है। किस कम्बख्त ने तुमसे बाकी देने को कहा था? अहमक कहीं के! यूँ भूखे मरते हैं, मगर जब दो, तब लेते नहीं। क्या खूब! भीख के टूक और बाजार में डकार।"

रुपया उसके हाथ में देने के बजाय मैंने जमीन पर फेंक दिया और ताँगेवाले को बढ़ने का इशारा किया। रुपया उठाते कुली ने सलाम किया और आजिजी से बोला, "हुजूर की शान में गुलाम ने तो एक लफ्ज भी बेअदबी का नहीं कहा..."

मुझे फिर तैश आ गया। ताँगा चल रहा था, और मैं उसे झाड़ रहा था, "तुम्हारी हैसियत क्या है, जो कुछ कहोगे? दो कौड़ी का आदमी, कहता है कि मैंने तो कुछ भी नहीं कहा। समझ क्या रखा है अपने को?"

कुली नजरों से ओझल हुआ तो ताँगेवाले से उलझने को जी चाहा, मगर कम्बख्त ने ऐसा मौका ही न दिया। साथियों ने घर आकर पूछा, "आज तुम्हें यह एकाएक हो क्या गया है?" अब भला बताइए, मैं उन भलेमानुषों को कैसे बताऊँ कि एक मामूली आदमी ने अपनी शाने-मुफलिसी से मेरी शाने-हातिमताई चूर-चूर कर दी है और आप पूछते हैं कि मुझे हो क्या गया है? बकौल 'गालिब'—

*कोई यह बतलाए हम बतलाएँ क्या?* ●

(1954)

# गधे का विश्वास

उदमी जाट को अपना कुछ सामान ढोने के लिए गधे की जरूरत हुई तो वह अपने पड़ोसी छिद्दा कुम्हार से माँगने गया। गधा अन्दर घर में बँधा हुआ था। मगर न देने की नीयत से छिद्दा बोला, "चौधरी, गधा बाहर चरने चला गया है, रात तक आएगा। घर पर होता तो तुम्हें देने में मुझे अपार हर्ष होता।"

इतने में ही अन्दर बँधे हुए गधे ने पंचम स्वर में आलाप लिया, तो जाट बोला, "क्यों जी, गधा तो अन्दर मौजूद है, फिर भी ये बहाना?"

कुम्हार बोला, "वाह चौधरी, तुम भी खूब हो! गधे की जबान का विश्वास करते हो और मेरा विश्वास कुछ भी नहीं?" ●

(1953)

# इतवारवाले बाबूजी

नरेन्द्र बाबू बेगार महकमे में कई वर्ष बेगार ढोने के बाद किसी तरह देहली में नौकरी तो पा सके, मगर सिर छिपाने को मकान न पा सके। आखिर दिल्ली से तेरह मील दूर गाजियाबाद में रहने को विवश हुए। जनरल ड्यूटी में प्रातः साढ़े सात से साढ़े ग्यारह और दोपहर दो से साढ़े पाँच बजे तक खटने के लिए मुँहअँधेरे ही बेचारे ट्रेन से दिल्ली जाते, तो बच्चे सोए हुए रहते और रात को जब नौ-दस बजे वापस आते, तब तक बच्चे सो जाते। इतवार की छुट्टीवाले रोज ही बच्चों से हँस-बोलकर जी बहलाने का अवसर मिलता।

इसी तरह दिल्ली-गाजियाबाद के चक्कर कोल्हू के बैल की तरह काटते हुए दिन गुजर रहे थे, कि एक रोज ड्यूटी पर एकाएक तबीयत खराब हो जाने की वजह से दिन में ही घर वापस आना पड़ा। बड़ा बच्चा स्कूल गया हुआ था। दरवाजे पर दस्तक सुनकर पत्नी ने छोटे बच्चे को भेजा ताकि वह दरवाजा खोलकर मालूम करे कि आगन्तुक कौन है? बच्चे ने दरवाजा खोलकर देखा तो बोला, "माँ, इतवारवाले बाबूजी आए हैं।" ●

(1955)

# नादिहन्द*

सन् 1924 की सर्दियों की बात है, दो-तीन माह से माँ सख्त बीमार थी। डॉक्टरों का कहना था कि दवा के बजाय दुआ और टहल से आराम हो तो हो। उन दिनों जीविकोपार्जन के लिए साड़ियाँ काढ़ने की मशीन लगा रखी थी। दो-तीन माह दिन-रात परिचर्या में लगे रहने के कारण रोजगार चौपट हो गया था। आमदनी के सभी स्रोत सूख चुके थे। जो थोड़ी-बहुत जमापूँजी थी, डॉक्टर-वैद्यों की नजर हो चुकी थी। धीरे-धीरे नौबत यहाँ तक पहुँच गई कि एक रोज पास में फूटी कौड़ी न रही। दवा तो दरकिनार, दूध और फल भी कैसे लाए जाएँ, कुछ सूझ ही न पड़ता था।

चुपचाप बाहर बरामदे में गरदन लटकाए बैठा था। माँ के पास जाने का साहस ही न होता था कि न जाने कब दूध या फल के रस के लिए संकेत कर बैठे। मुझे अपनी इस असहाय स्थिति पर अकथनीय आत्मग्लानि हो रही थी। मन-ही-मन में छटपटा रहा था। किसी को पता न चल जाए, यह आशंका और भी खाए जा रही थी। एक अनिर्वचनीय घुटन-सी हो रही थी कि इतने में ही किसी ने बाहर से आवाज दी। दरवाजा खोला तो एक परिचित मुसलमान बुड्ढा खड़ा था। तीन-चार वर्ष पूर्व कोई बहुत जरूरी आवश्यकता बताकर वह पन्द्रह रुपए उधार ले गया था। बाद में मालूम हुआ कि वह तो बहुत बड़ा नादिहन्द है। ले के देना और कमा के खाना, वह बहुत बड़ा गुनाह समझता है। एकाध बार साहस बटोरकर तकाजा किया भी तो स्वयं मुझे ही शर्म-सी मालूम दी। लाचार सब्र कर लिया।

उसने मुझे देखते ही सोलह रुपए हाथ पर रख दिए। मैंने कहा, "रुपए तो आपने पन्द्रह ही लिए थे। यह एक रुपया ज्यादे कैसा?"

वह बोला, "नहीं, मैंने सोलह लिए थे।"

मैंने अपनी डायरी देखी तो पन्द्रह रुपए ही उसके नाम थे। अतः उसका एक रुपया लौटाते हुए कहा, "डायरी में भी पन्द्रह ही लिखे हैं, यह अपना रुपया वापस लो।"

---

*फारसी शब्द, जिसका अर्थ है—रुपया लेकर न लौटानेवाला।

वह सोलह देने की ही जिद करता रहा और कहता रहा कि आपने सोलह ही दिए थे। मगर जब मैं किसी तरह भी उसका एक रुपया बढ़ती लेने को प्रस्तुत नहीं हुआ तो बोला, "अच्छा जी, यह हमीं से चालबाजी?"

मुझे उसके इस भोलेपन पर हँसी आ गई। मैंने सहास्य कहा, "चालबाजी तुम कर रहे हो या मैं? अपना रुपया वापस लेते हो या फेंकूँ इसे नाली में?"

उसने रुपए के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा, "अच्छा, जैसी तेरी मर्जी। अगर कम लिया तो खुदा के सामने जवाबदेह होगा?"

अब मुझे भी ताव आ गया। उसके सब रुपए जमीन पर फेंककर बोला, "बड़े खुदावाले बनते हो! हमेशा के नादिहन्द, एक रुपया बढ़ती देकर खुदा के सामने सुर्खरू होना चाहते हो! चलो हटो यहाँ से। हमारा ही रुपया और हमीं जवाबदेह होंगे? क्या खूब?"

चुपचाप रुपए बटोरकर पन्द्रह रुपए मेरे हाथ में रखते हुए वह बोला, "अच्छा बाबा, खफा क्यों होता है। हमीं बेईमान सही।"

रुपए लेकर मैं जाने लगा तो वह बोला, "जालिम, तेरी इस अदा ने ही तो मार डाला। न कभी तकाजा किया न कभी उलाहना ही दिया। तीन-चार वर्ष में देने आया तो उतने ही लिए, ज्यादा न लिए।"

मुझे फिर हँसी आ गई तो वह बोला, "हँसता क्या है बेटे? खुदा जानता है, साठ वर्ष की उम्र में आज पहली बार लेकर तुझे दे रहा हूँ। न जाने किस ताकत ने तेरे रुपए लौटा देने को मजबूर कर दिया। खाना-पीना सब हराम मालूम होने लगा था...।" और न जाने वह क्या-क्या कहता रहा, मैं तो दूध-फल लाने के लिए लपक लिया। कारूँ का खजाना जो हाथ लग गया था उस रोज। ●

(1955)

# सहृदयता का मूल्य

इसी से मिलती-जुलती एक वर्ष के बाद की घटना और स्मरण हो आई।

एक आदमी पुलबंगश के सरकारी हस्पताल में कम्पाउण्डर था। उसकी खुशपोशी और जामाजेबी के कारण मैं उसे डॉक्टर समझे हुए था। मैं उन दिनों खद्दर का व्यापार करता था। एक रोज उसने साठ रुपए का खद्दर लिया और सौ रुपए का नोट दिया तो संयोग की बात मेरे पास देने को चालीस रुपए उस वक्त न निकले। मैंने तकल्लुफन कह दिया, "कोई बात नहीं, रुपए फिर आ जाएँगे, आप कपड़ा ले जाइए।" और वह धन्यवाद देते हुए सचमुच कपड़ा ले गया।

एक रोज प्रतीक्षा करने के बाद जब रुपए नहीं आए तो मैंने डिस्पेंसरी आदमी भेजा। उसने आकर रिपोर्ट दी कि वह डॉक्टर-वॉक्टर कुछ भी नहीं, टैम्परेरी कम्पाउण्डर था, और तारीफ यह कि उसी रोज उसकी नौकरी छूट गई।

सुनकर चिन्तित हुआ। किसी तरह उसकी रिहाइश का पता लगाया। तकाजा करने पर सुबह-शाम, आज-कल के बहाने बतलाने लगा। दो-चार रोज हेरा-फेरी करने के बाद बोला, "आप अन्दर आ जाइए, रुपए देता हूँ।"

मैं सहमते हुए अन्दर चला गया। भय यह कि अन्दर ले जाकर न जाने क्या वोहतान गले मढ़ेगा? न जाऊँ तो मुझे भयभीत समझकर हावी हो जाएगा। जो थोड़ी-बहुत रुपए मिलने की क्षीण आशा है, वह भी विलीन हो जाएगी।

झिझकते हुए अन्दर गया तो सहन में एक युवा स्त्री चारपाई पर पड़ी हुई थी। वहीं मेरे लिए भी मूढ़ा बिछाकर अन्दर से जेवर का सन्दूक लाकर बोला, "माफ करना लालाजी, इधर मेरी वाइफ को निमोनिया हो गया है, उधर मेरी नौकरी जाती रही है। बहुत परेशानी में फँसा हुआ हूँ। आप इसमें से कोई मुनासिब जेवर ले जाइए। थोड़े दिन बाद रुपए देकर जेवर छुड़ा लूँगा।"

मेरी हालत अजीब थी। जान न पहचान बड़ी बी को सलाम। अच्छे फँसे। एकाध रुपया बमुश्किल नफा मिलता कि मूल ही गायब हो रहा है। मूल के लालच में हाथी गँवा देने की बात थी। पत्नी बीमार, नौकरी छुटी हुई, यह रुपए कैसे दे सकेगा? मगर ऐसी स्थिति में जेवर लेना भी तो कफन-खसोट जैसा होगा। एक

क्षण में ही निश्चय करके बोला, "आप जेवर रखिए। न मालूम आपको इनकी कब जरूरत पड़ जाए। जब आपके पास रुपए हों, तब भिजवा दीजिए। मैं जेवर नहीं ले जा सकूँगा।"

वह कृतज्ञ स्वर में बोला, "लालाजी, तीसरे रोज मेरा भाई आएगा। आप दस-ग्यारह बजे आ जाइए। आप विश्वास रखिए, आपके रुपए देकर ही हम जाएँगे।"

बहता हुआ खरबूजा मैं तो कृष्णार्पण कर ही चुका था। फिर भी उस आदमी की साख देखने को तीसरे रोज दस बजे जाकर आवाज दी। वह मुझे फिर अन्दर ले गया। देखा तो न वहाँ चारपाई थी, न घर में कोई और सामान। जाते ही उसने दस-दस के छह नोट मुझे दिए और बोला, "लालाजी, आप ही का इन्तजार कर रहा था। बीवी-बच्चों को मय सामान के रात को ही चुपके-से भाई साहब के साथ घर भेज दिया है, ताकि और तकाजगीरों को पता न लगे। सिर्फ आपके लिए रुका हुआ था। एक बार तो जी चाहा कि मैं भी चल दूँ, परन्तु धिक्कारी-सी आने लगी कि जिसने बीमार पत्नी को देखकर जेवर छुआ तक नहीं, उसके रुपए लेकर कैसे भागूँ?"

मैं धन्यवाद देकर चलने लगा तो बोला, "लालाजी, आप बड़े भाग्यशाली और दूरन्देश हैं। आपने उस रोज जेवर छू भी लिया होता तो भगवान् जाने फिर आप कहाँ होते?" ●

(1955)

# एक वे भी मुसाफिर थे

सन् 1933 ई. की शरद् ऋतु की बात है, मैं 'राजपूताने के जैनवीर' नामक अपने इतिहास-ग्रन्थ के सम्बन्ध में कुछ अनुशीलन करने के लिए दिल्ली से उदयपुर जा रहा था कि अजमेर में ख्वाजा चिश्ती के मजार पर उन दिनों उर्स होने के कारण ट्रेन में तिल रखने को स्थान न था। कई चक्कर काटने के बाद गार्ड के डिब्बे के नजदीक एक छोटे-से डिब्बे पर नजर गई तो, उसमें सिर्फ एक हजरत नजर पड़े। ऊपर-नीचे झाँककर देखा, न लेडीज, न रिजर्व, न ओनली पुलिस-फौज, न आइस कम्पार्टमेण्ट लिखा था।

झिझकते हुए अन्दर गया तो खयाल आया कि कहीं रात को किसी स्टेशन पर कटनेवाला डिब्बा न हो। इस खयाल से पूछा तो बोले, "आप इत्मीनान से दूसरे बर्थ पर बिस्तर जमा लीजिए, और देखिए साहब, बुरा न मानिए, अगर और मुसाफिर आएँ तो उन्हें बिठाते जाइए। मैं अपनी बेंच पर सोया रहूँगा। बगैर सोए मेरे सिर में दर्द हो जाता है और साहब मुझे जयपुर पहुँचकर कल ऑफिस भी अटेण्ड करना है।"

मैंने "बहुत मुनासिब" कहकर दूसरी बेंच पर बिस्तरा लगाया। लेटकर उन्हें गौर से देखा कि कहीं हजरत सोते में हमला तो न कर बैठेंगे। मगर इसकी उनसे कोई आशा नहीं थी। निहायत लतीफ, नाजुकमिजाज थे।

रात को नींद उचटी तो देखा कि उनके बिस्तरे पर दो व्यक्ति और ऊँघ रहे हैं और स्वयं सिकुड़े हुए खिड़की से लगे बैठे हैं। मैंने उन्हें इस स्थिति में देखा तो अर्ज किया, "वाह साहब, यह अमानत में खयानत कैसी? आप ही के कौल के मुताबिक इस माल पर तो मेरा हक है?"

सुनकर आप सिर्फ मुस्कराए, जवाब न पाकर मैं फिर खर्राटे लेने लगा। फिर नींद खुली तो देखा, दो रेलवे बाबू खड़े हुए हैं। मैंने पाँव समेटते हुए कहा, "अरे साहब, आप वहाँ खड़े क्यों हैं? यहाँ बैठिए।"

वे केवल "थैंक्यू" कहकर पूर्ववत् खड़े रहे। मैंने फिर अर्ज किया, "आप यहाँ आकर बैठिए, हम लेटे हैं और आप खड़े रहें, यह तो सरीहन जुल्म है।"

वे मुस्कराकर बोले, “आप हमारी रेल में सफर कर रहे हैं, हमारे मेहमान हैं। आप सोते चलें और हम आपको देखकर मुस्कराते रहें, यही हमारे लिए शोभनीय है।”

आग्रह करने पर भी न वे बाबू बैठे और न मेरे पास उन नाजुकमिजाज हजरत ने अपने पड़ोसियों को आने दिया। मुझे भी नींद फिर क्या आनी थी। पड़ा-पड़ा हाली के इस शेर को गुनगुनाता रहा—

*जानवर, आदमी, फरिश्ता, खुदा।*
*आदमी की हैं सैकड़ों किस्में॥* ●

(1955)

# मित्र के लिए

एक व्यक्ति सपत्नीक तीर्थयात्रा को जाने लगा तो अशर्फियों की थैली अपने एक साहूकार मित्र के यहाँ सुरक्षा की दृष्टि से रख गया। साहूकार ने बगैर गिने थैली तिजोरी में रखवा दी और एक-दो वर्ष के बाद जब वह यात्रा से लौटा तो माँगने पर बगैर गिने ही ज्यों-की-त्यों वापस कर दी।

दो-एक रोज के बाद अशर्फियाँ गिनीं तो पाँच अशर्फियाँ कम निकलीं। वह पेट पकड़े हुए साहूकार के पास जाकर बोला, "वाह मित्र, तुम भी विचित्र मनुष्य हो। तुम्हारे विश्वास पर मैं बिना गिने अशर्फियाँ दे-ले गया, परन्तु तुम कतरब्योंत बगैर न चूके। गिनीं तो पाँच अशर्फियाँ कम निकलीं।"

साहूकार ने चुपचाप उसे पाँच अशर्फियाँ दे दीं। घर आकर वह अपनी पत्नी से बोला, "देखो जी, कैसा कलियुग आ गया है, हाथ को हाथ खाने लगा। भला अब किसका विश्वास किया जाए जब ऐसे-ऐसे मित्र भी धोखा देने लगे। यदि मैं लिहाजवश अशर्फियाँ न गिनता तो पाँच कम हो गई होतीं।"

पत्नी के पूछने पर उसने बताया तो वह सिर पीटकर बोली, "यह आपने क्या अनर्थ किया? वहाँ जाने से पूर्व मुझसे जिक्र तो कर लेना था। वह तो मैंने निकालकर सुनार को दी हैं। जाओ उनकी अशर्फियाँ अभी वापस करके आओ।"

अशर्फियाँ लौटाने गया तो साहूकार ने बगैर कुछ कहे-सुने वापस ले लीं। पास में बैठे किसी सज्जन ने पूछा, "आप भी विचित्र हैं। उसने आप पर गबन का आरोप किया तब भी आप मुस्कराते रहे, और वापस दे गया तब भी मुस्कराते रहे, आप तो जीवनमुक्त मालूम होते हैं।"

साहूकार ने उसी तरह मुस्कराते हुए कहा, "वह मेरा मित्र है।" ●

(1955)

# लातों के भूत

नानू भाई की साध थी कि वह अपना समस्त जीवन ग्रामोद्योग के कार्यों में खपा देगा। एक तो उसे शहरी वातावरण में पढ़ते-पढ़ते शहरों से अरुचि हो गई थी; दूसरे उसकी शिक्षा-दीक्षा भी उसी तरह की हुई थी। अतः शिक्षा समाप्त करके जब वह अपने गाँव पहुँचा तो खेती-बारी के कामों में पिता का हाथ बँटाने लगा।

एक रोज पिता के आदेश से नानू भाई खेतों की रखवाली को गया तो वहाँ एक गधा स्वच्छन्द विचर रहा था। खेत को खा भी रहा था और रौंद भी रहा था।

नानू भाई ने गधे का यह आचरण देखा तो हाथ जोड़कर बोला, "हे बैसाखनन्दन, आपने किसकी आज्ञा से हमारे खेत में पदार्पण किया है? आपके पोषण के लिए हमारे खेतों के बाहर काफी खाद्य मौजूद है, फिर भी आप हमारे खेत में विचरण कर रहे हैं। यह आपकी शोषण-नीति उचित नहीं। 'जो कमाएगा, वही खाएगा' क्या आपने यह सिद्धान्त श्रवण नहीं किया? पर-क्षेत्रों पर अधिकार-लिप्सा का सामन्ती युग अब समाप्त हो रहा है। अतः आप कृपा करके अविलम्ब हमारे खेत का परित्याग कीजिए! यदि आपने मेरे अनुनय-विनय पर ध्यान नहीं दिया तो मजबूरन आपके आगे लेटकर मुझे सत्याग्रह करना पड़ेगा, यदि फिर भी न माने तो भूख-हड़ताल का अमोघ अस्त्र मुझे सँभालना होगा। इससे आपका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में बहुत अपयश होगा। अतः मेरी आपसे करबद्ध प्रार्थना है कि आप वह स्थिति आने से पूर्व ही हमारे क्षेत्र को मुक्त कर दें। इस प्रकार हमारे-आपके मैत्री सम्बन्ध भी अक्षुण्ण बने रहेंगे और हमारा आपसी सहयोग भी सदैव साथ रहेगा।"

नानू भाई सुबह से शाम तक करबद्ध प्रार्थना करता रहा, परन्तु गर्दभराज का हृदय न पसीजा। वह यथाशीघ्र सूर्यास्त से पूर्व खेत को पेट में रख लेना चाहता था।

शाम को नानू भाई का पिता खेत पर आया। उसने डण्डा मारकर गधे को खेत से बाहर निकाल दिया तो नानू भाई बोला, "पिताजी, आपने यह घातक प्रयोग क्यों किया? अब तो यह बर्बर प्रथा समस्त राष्ट्रों से उठती जा रही है। शत्रु का

हृदय परिवर्तन करने का जो नवीन अमोघ उपाय ईजाद हुआ है, मैं उसी का प्रयोग कर रहा था।"

पिता मुस्कराकर बोला, "जिनके हृदय हैं, उन्हीं का तो हृदय परिवर्तित किया जा सकता है, बेटे, जिनके हृदय ही नहीं, उन गधों को समझाने के लिए यही अचूक उपाय है, जिसका मैंने उपयोग किया है। लातों के भूत बातों से नहीं समझते।" ●

(1955)

# प्रतिज्ञा न लेने की प्रतिज्ञा

पहाड़ी धीरज, दिल्ली में एक हजरत रहते हैं, बहुत हँसमुख और मिलनसार। सिर के बाल सफेद हो गए हैं, एक-दो दाँत भी दगा दे गए हैं। मगर दिल्ली की जौलानी बरकरार है। बहुत चुहलबाज हैं। बात-बात पर फब्तियाँ कसते हैं। जिस दिन किसी को दस-पाँच गालियाँ न दे लें और न सुन लें तो उस दिन को वे मनहूस समझते हैं। कोई कुछ भी कह ले बुरा नहीं मानते। मुस्कराते रहते हैं। जवानी उनकी रंगीन रही है। वालिद कमाते थे और वे दोनों हाथों से लुटाते थे। उनका यकीन था कि रिश्वत की कमाई लुटाने से ही बढ़ती है। वालिद बुजुर्गवार ने काफी समझाया, मगर उन पर कोई असर नहीं हुआ।

संयोग से पहाड़ी धीरज पर जैन-साधु का चातुर्मास हुआ। उनके तप-तेज की बहुत ख्याति थी। वाणी में चमत्कार था कि जिस किसी को जो भी प्रतिज्ञा लेने को कहा नतमस्तक होकर स्वीकृत कर ली। उनके बुजुर्गवार ने भी एक रोज एकान्त में साधु के चरण पकड़कर अपनी वेदना बिखेर दी, "महाराज, एक ही लड़का है, वह भी दारा-सुरा के चक्कर में फँसा हुआ है। हमारा उद्धार कीजिए प्रभो।"

महाराज के आश्वासन देने पर उन्होंने चरण छोड़े। हजरत भी महाराज के दर्शनार्थ आते-जाते थे। एक रोज एकान्त देखकर महाराज कुछ कहना ही चाहते थे कि आप बोले, "महाराजजी, शर्मिन्दा न कीजिए। मैं पहले ही प्रतिज्ञा ले चुका हूँ।"

साधु उनके सरल स्वभाव और धार्मिकता से गद्‌गद् हो गए। अनेकानेक आशीर्वाद दिए। जाने के बाद पिता आए तो साधु बोले, "भव्य, तुम बहुत भाग्यशाली हो जो ऐसा पुत्ररत्न पाया। तुम्हारा पुत्र सच्चा सम्यक्ती है। मेरे संकेत से पूर्व ही प्रतिज्ञा ले ली।"

पिता आश्वस्त होकर घर चले गए। मगर हजरत का कहीं पता न था। वे हस्ब-दस्तूर रात के चार बजे आए। बुजुर्गवार ने सिर पीट लिया। सुबह आँखों में आँसू भरकर साधु को स्थिति बतलाई, तो साधु भी आश्चर्य में पड़ गए। पहले तो उन्हें विश्वास ही न हुआ कि मन्दिर में और वह भी साधु के सामने ली हुई प्रतिज्ञा कोई कैसे तोड़ सकता है? यह उनके जीवन में पहली घटना थी।

एक रोज महाराज का उनके घर आहार हुआ। आहार के बाद नियमानुसार साधु ने उपदेश दिया, फिर परिवार के सदस्यों को कोई-न-कोई प्रतिज्ञा दिलाई। उनकी तरफ देखकर बोले, "तुम्हें क्या प्रतिज्ञा दिलाएँ, जो मन्दिर में ली हुई प्रतिज्ञा भी तोड़ देते हो।"

हजरत हाथ जोड़कर बोले, "महाराज, मैंने कोई प्रतिज्ञा नहीं तोड़ी। प्राण भले ही निकल जाएँ, परन्तु ली हुई प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता।"

"क्या तुमने उस रोज के बाद सुरा-पान नहीं किया?"

"जरूर किया, रोज करता हूँ।"

"फिर तुमने मुझसे उस रोज क्यों कहा कि महाराज, शर्मिन्दा न करें मैं पहले ही प्रतिज्ञा ले चुका हूँ।"

"महाराज, उस प्रतिज्ञा पर दृढ़ हूँ, दुनिया इधर से उधर हो जाए, यहाँ तक कि आप भी तोड़ने को कहें तो न तोड़ूँ।"

"विचित्र आदमी हो, यह भी कहते हो कि शराब रोज पीता हूँ, और यह भी दावा है कि प्रतिज्ञा नहीं तोड़ूँगा। मेरी समझ में यह पहेली नहीं आई।"

हजरत चुपके-से बोले, "महाराज, मैंने यह कब कहा था कि सुरा-दारा का त्याग करता हूँ। मैंने तो यही निवेदन किया था कि प्रतिज्ञा ले ली है।"

"फिर किस चीज की प्रतिज्ञा ली थी?"

"महाराज, प्रतिज्ञा न लेने की प्रतिज्ञा ली थी और यह प्रतिज्ञा मैं कदापि नहीं तोड़ूँगा।" ●

(1955)

# *कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'*

जन्म : सन् 1906 ई.
जन्मस्थान : देवबन्द ग्राम, जिला सहारनपुर (उ. प्र.)
शिक्षा : संस्कृत में मध्यमा
प्रकाशित कृतियाँ : नई पीढ़ी नए विचार (1950), माटी हो गई सोना (1957), दोनों रेखाचित्र-संग्रह; जिन्दगी मुस्कराई (1954), संस्मरणात्मक निबन्ध; दीप जले शंख बजे (1958) संस्मरण; कारवाँ आगे बढ़े, जिन्दगी लहलहाई, बाजे पायलिया के घुँघरू (1957) तीनों ललित निबन्ध-संग्रह; क्षण बोले कण मुस्काए—रिपोर्ताज; आकाश के तारे धरती के फूल (1952) लघुकथा-संग्रह; तपती पगडण्डियों पर पदयात्रा-आत्मकथा आदि
सम्प्राप्ति : 'तपती पगडण्डियों पर पदयात्रा' पुस्तक पर भारतेन्दु सम्मान
निधन : सन् 1995 ई.

## संकलित लघुकथाएँ

संसार की साक्षी, किसके चरणों में, मध्यस्थ, तीन गुच्छियाँ, प्रश्नोत्तर, वे दोनों, पुरस्कार और दान, सुराही और प्रतिमा, एक प्रश्न, नन्दन, इंजीनियर की कोठी

# संसार की साक्षी

दीमक ने महीनों मर-मरकर अपने लिए एक घर बनाया—वाशिंगटन के विख्यात होटल की ऊँची अट्टालिका-सी, जाने कितनी मंजिलों की बाम्बी और उसमें अपने नित बढ़ते परिवार के साथ रहने लगा—सुख से, सुविधा से। उसमें सभी के लिए पृथक्-पृथक् स्थान था। विश्व के कलाकारों की अभिरुचि से अछूती यह बाम्बी एक पूरा संसार था—प्यार और सुख की कोमल भावनाओं से भरपूर।

साँप बेघर था। वर्षा में वह भीगता, धूप में जलता और धूल में परेशान होता, एक दिन धीरे-से आकर बाम्बी में बैठ गया। दीमक ने अतिथि समझकर उसका स्वागत किया।

साँप ने फुफकारकर कहा, "क्षुद्र दीमक! मुझे तुम्हारी कृपा की आवश्यकता नहीं है। मैं अपने इस घर में सुख से रहना चाहता हूँ। तुम अब अपना रास्ता देखो!"

"तुम्हारा यह घर कहाँ है भाई, यह तो मेरा है। इसे बनाकर अभी तो मेरी थकान भी नहीं उतरी। मैं इसे छोड़कर और कहाँ चला जाऊँ?"

साँप ने अपनी जिह्वाएँ लपलपाईं और दीमक के कुछ सुकुमार शिशुओं को अपने पेट में रख लिया।

"तुम जाओ जहन्नुम में! और न जाओ तो यहीं रहो। मैं बहुत दिन तक अपने भोजन की चिन्ता से निश्चिन्त रहूँगा। मुझे तुम्हारे यहाँ रहने में भी कोई आपत्ति नहीं है मेरे दोस्त!"

दो-तीन और शिशुओं को सटककर साँप ने कहा, "ओह, बड़े ही स्वादिष्ट हैं ये बताशे तो!"

बाम्बी के बाहर एक बुढ़िया अपने बच्चे से कह रही थी, "जोड़ हाथ; नाग देवता की बाम्बी है यह!"

शैतानियत से मुस्कराकर साँप ने दीमक की ओर देखा। दीमक दुःख और क्षोभ से अधमरा हो, बुढ़िया की ओर देख रहा था। ●

# किसके चरणों में

एक शक्तिशाली पत्रकार ने अपने पत्र में किसी नागरिक प्रश्न पर एक जोरदार लेख लिखा। वातावरण में हड़कम्प मच गया और अत्याचारी क्रोध से काँप उठे। चर्चा रही कि पत्रकार को कानून के शिकंजे में पीसने के लिए जाल बुना जा रहा है। रोज नई खबरें उड़तीं, पर अन्त में वे सब अफवाह बनकर ही रह गईं।

एक दिन जिलाधीश किसी सभा में पत्रकार से मिले। इधर-उधर की बातों के बाद धीमे-से बोले, "मैं आपका बहुत सम्मान करता हूँ और मैं नहीं चाहता कि मेरे समय में आपको कष्ट हो। इसलिए उस लेख पर सरकारी वकील ने मुकदमा चलाने की बात कही, तो मैंने उसे डाँट दिया।"

एक चाय पार्टी में सरकारी वकील ने धीरे-से पत्रकार के कान में कहा, "मैं आपका बहुत सम्मान करता हूँ, इसलिए जिलाधीश ने आपके लेख पर केस तैयार करने की बात कही, तो मैंने डाँट दिया।"

पार्क में एक संस्था के प्रधान मिले, तो पत्रकार से बोले, "जिलाधीश और सरकारी वकील आपके लेख पर केस चलाने की तैयारी कर चुके थे, पर मैंने दोनों से साफ कह दिया कि केस चला, तो उसके विरोध में मैं आम जलसा करूँगा।"

कृपा कर कृतज्ञ न होना कृतघ्नता है, पर पत्रकार की परेशानी यह है कि वह अपनी कृतज्ञता के पुष्प किस उपकारी प्रतिमा के चरणों में चढ़ाए? ●

# मध्यस्थ

पुरुष ने कहा, "मैं शक्ति का अक्षय भण्डार हूँ।"

नारी ने कहा, "मैं सेवा की अमर स्रोतस्विनी हूँ।"

पुरुष का अभिमान उमड़ आया। उसने कहा, "शक्ति का आश्रय ग्रहण किए बिना सेवा का अस्तित्व असम्भव है।"

नारी ने नम्रता से कहा, "यह ठीक है, पर यह भी तो ठीक है कि सेवा का सम्बल सँभाले बिना शक्ति पैशाचिकता की छाया है।"

वृक्ष से झरकर एक फूल दोनों के मध्य में आ गिरा। उसने कहा, "मैंने तुम्हारी बातें सुनी हैं और मैं अपने जीवन के सन्देश से तुम दोनों में उठे विवाद को शान्त कर सकता हूँ।"

"क्या है वह सन्देश?" दोनों पूछ उठे।

"शक्ति के सौन्दर्य एवं सेवा की सुरभि का संगम ही जीवन की पूर्णता है।"

नर और नारी दोनों एक-दूसरे के निकट हो आए। ●

# तीन गुच्छियाँ

"बोल, क्या लेगी इन तीनों गुच्छियों का?"

"तीन गुच्छियों के तीन आने बहूजी, और क्या लूँगी कोई धेली-रुपया!"

"दो आने ले, तो रख दे वहाँ तीनों गुच्छियाँ।"

"आप तो राजा आदमी हैं बहूजी, एक आना आपके हाथ का मैल है, तीन ही आने दे दो।"

"ना, ना, मैं इन बातों में नहीं आया करती। तेरी सौ बार गरज हो, तो बेच, नहीं अपना रास्ता नाप!"

भाभी अपना कशीदा निकालने लगी। यह उसके अन्तिम निर्णय की घोषणा थी। चमारी ने आकुल आँखों से आकाश की ओर देखा। सन्ध्या सिर पर मँडरा रही थी। एक लम्बी साँस छोड़कर तीनों गुच्छियाँ उसने एक ओर रख दीं। ठन्न से दो इकन्नियाँ उसके सामने फेंक दी गईं। उन्हें उठाकर सुस्त-सी वह चल पड़ी।

दुःखी होकर रमेश ने कहा, "तुमने इस गरीब का एक आना लूटकर बहुत बुरा किया भाभी!"

"इसमें लूट-खसोट की क्या बात है? यह तो सौदा है भैया!"

"जी हाँ, यह सौदा है", कुढ़कर रमेश ने कहा, "उस बेचारी ने तीन आने के लिए तीन गुच्छियाँ बाँधीं। सन्ध्या न हो आती, तो वह तीन ही आने लेती। अब जाने बेचारी का कौन-सा काम रुका रह जाएगा।"

"ये आसमानी तार न जाने तेरे पास कहाँ से आया करते हैं!"

रमेश के कहने से कालू उसे बुला लाया। एक आना उसे देकर रमेश ने कहा, "सच-सच बताओ बहन, दो आने लेकर तुम सुस्त क्यों हो गई थीं?"

करुणा से उसका गला रुँध गया। खाँसकर उसने कहा, "बाबूजी! घर में बीस दिन से लड़का बीमार पड़ा है और कई दिन से बताशे माँग रहा है। चलते समय उसे कह आई थी कि बेटा, एक आने का नमक और एक की मिरच तो लानी ही हैं। गुच्छियाँ तीन आने में बिक गईं, तो तेरे लिए बताशे जरूर लाऊँगी।...अब मैं सोच रही थी कि घर जाते ही वह बताशे माँगेगा और दुःखी होगा। वैसे तो

बाबूजी, रोज कहाँ बच्चों को मिठाई खिलाई जाती है, पर बीमारी-सीमारी में तो बच्चों का मन रखना ही पड़ता है!"

रमेश ने पाव-भर बताशे मँगवाकर उसके पल्ले में डाल दिए। आशीर्वाद देती वह इकन्नी लौटा चली गई। मैंने भीगी आँखों से देखा, उसका पैर अब जमीन पर नहीं पड़ रहा था—छाती से बताशे चिपटाए, जैसे वह उड़ी जा रही थी।

अब भी वह कभी-कभी रमेश के घर आती है और उपलों, चने की गुच्छियों एवं गन्नों के रूप में अपने प्रेम का दान कर जाती है। भाभी की अब वह एक सहेली-सी है। ●

# प्रश्नोत्तर

आज दफ्तर में बड़े साहब आए, तो जैसे ज्वालामुखी फट गया। बात कुछ न थी, किसी का कोई दोष भी न था, फिर भी वे बरस पड़े।

एक 'एण्ट्री' को देखकर चन्द्रभान से बोले, "यह डाकखाने की रकम फुटकर खर्च खाते में क्यों चढ़ा रखी है?" और रजिस्टर उसके ऊपर दे मारा। उसने अपने को सँभाला और रजिस्टर साहब के सामने रखते हुए कहा, "इसकी 'डिटेल' देख लीजिए! यह रकम असल में..."

बात बीच में ही थी कि साहब चिल्ला पड़े, "रास्कल! जबान चलाता है। सूअर, हमको हिसाब देखना सिखाएगा।"

चन्द्रभान कहता है—मन में आया, साहब की नेकटाई पकड़ लूँ और दो ठोकरें जमाऊँ, पर नौकरी, श्रीमतीजी और बच्चे! खून का घूँट पीकर रह गया। साथ के चार दूसरे बाबुओं की भी यही दशा हुई।

पाँच बजे शाम को जब दफ्तर से चले, तो सब खामोश थे; जैसे अपमान के उस घूँट को पचाने का प्रयत्न कर रहे हों। बड़े बाबू अनुभूति की तीव्रता पर विवश सन्तोष और निर्लज्जता के ताने-बाने से बुना परदा डालते हुए बोले, "क्या करें भाई! इस कम्बख्त नौकरी के लिए सब-कुछ सहना पड़ता है।" जरा रुककर, जैसे अपना मन समझा रहे हों, बोले, "बड़ा साहब, जबान का बड़ा ही कड़वा है, पर एक बात है—'इन्क्रीमेण्ट' के मामले में बहुत ही फराखदिल है।"

टी-स्टॉल आ गया और सब चाय पीने लगे, पर चन्द्रभान के गले वह न उतरी और वह इधर-उधर देखने लगा। सामने के गोल चक्कर पर कुछ मजदूर अपना झाबा लिए बैठे थे। सर्दी बहुत थी, वे हाथ सेक रहे थे पत्ते जलाए।

अपमान की पीड़ा में उभरा एक प्रश्न चन्द्रभान के सामने आ गया—'मैं दफ्तर में बाबू हूँ और ये मजदूर। मेरा दफ्तर मुझे कोट-पतलून देता है, पर मैं इन्हें पहनकर जितना काँप रहा हूँ, उतने ही ये अपनी फटी चादरें लपेटे काँप रहे हैं। इस नौकरी से समाज में इन मजदूरों की अपेक्षा हमारी अधिक प्रतिष्ठा है, पर दफ्तर में तो रोज जूते ही खाने पड़ते हैं। फिर इस नौकरी में ही क्या विशेषता है?'

इसी समय उसके पास से निकलकर एक नया मजदूर उन मजदूरों में जा मिला।

"आज कहाँ रास्ता भूल आया भाई?" एक मजदूर ने उससे पूछा।

"आज ठेकेदार का जनाजा निकाल आया। बदमाश माँ की गाली देता था। मैंने भी आज रोड़ियों पर डालकर ऐसा रगड़ा कि बेटा तीन दिन हल्दी पिएगा।" अभिमान से उसका चेहरा खिल रहा था।

"अरे भाई, अच्छी नौकरी थी। यों ही झगड़ा मोल लिया!" पहले मजदूर ने समझाया।

"अरे भाई! दबें क्यों, जब अपनी मेहनत का खाते हैं! फिर भाई, रिजक का ठेका तो रहीम ने लिया है। नौकरी नहीं, तो अपना झाबा तो है!" स्वावलम्बन के भाव से उसका चेहरा भी खिल गया।

चन्द्रभान ने मन-ही-मन अपने प्रश्न का स्वयं उत्तर दिया, 'बस, दफ्तर की नौकरी में यही विशेषता है कि इसे छोड़कर आदमी फिर झाबा नहीं उठा सकता!' ●

# वे दोनों

भयानक जंगल में वे दोनों मिले—अचानक और खोए-से।

पुरुष ने कहा, "आओ, अब हम साथ रहें।"

नारी ने सिर झुका लिया। पुरुष ने उसका कोमल हाथ, अपने बलिष्ठ बाहु में थाम लिया।

पुरुष ने कहा, "मैं कठोर हूँ। आदेश मेरा स्वभाव है और उसके विरुद्ध कुछ सुनने की मुझे आदत नहीं। क्या तुम मेरे साथ रह सकोगी?"

नारी ने कहा, "मैं कोमल हूँ। जीवन में उफान लाती भी हूँ और उसे अपने में समाती भी हूँ। मैं सदा एक ही मुद्रा में स्थिर रहनेवाला पर्वत का शिखर नहीं। लहरों में इठलानेवाली सरिता हूँ।"

पुरुष ने कहा, "तब तुममें मुझे अपना सेवक बनाकर रखने की क्षमता है।"

नारी मुस्कराई, पुरुष ने उसे भुजपाश में बाँध लिया। ●

# पुरस्कार और दान

सेठ मगनीराम की पत्नी का ऑपरेशन सिविल अस्पताल में क्या हुआ, वहाँ एक मेला जुड़ गया। प्राइवेट वार्ड के दो कमरे तो उन्होंने लिए ही थे, उनके सामने एक शानदार शामियाना भी ताना गया। वह शामियाना अपने नीचे बिछी कोच-कुर्सियों के कारण नाचघर-सा हो गया। असल में तो कुशल-क्षेम पूछने आनेवालों के बैठने-उठने की व्यवस्था थी। मोटरों की तो अस्पताल में नुमायश ही लग गई। सबसे पुराने कम्पाउण्डर का कहना है कि अस्पताल में ऐसी चहल-पहल तो तब भी न हुई थी, जब अंग्रेज गवर्नर ने इसका उद्घाटन किया था।

बड़े डॉक्टर दिन में दो बार सेठानीजी के पास आते थे। दो-तीन बार तो उनकी श्रीमतीजी भी समाचार पूछने आईं। दूसरे डॉक्टर तो समझिए कि उन्हें लिपटे ही रहते थे। कम्पाउण्डरों का तो यह हाल था कि जैसे वे सेठजी के निजी नौकर ही हों।

सबकी साधना सफल हुई और सेठानीजी उठ बैठीं। सेठजी तो आज आपे में ही न थे। उनका हृदय निकलकर फिर अपने स्थान पर लौट आया था। वे धनपति थे। कमाना जानते थे, तो खर्च करना भी।

उन्होंने बड़े डॉक्टर को दो सौ पचास रुपए का फ्रांस का बना चाँदी का एक फूलदान भेंट किया और दोनों डॉक्टरों को सौ-सौ रुपए की घड़ियाँ।

पाँचों कम्पाउण्डरों को उन्होंने दस-दस रुपए दिए और भंगी-भिश्ती को दो-दो रुपए।

पुरस्कार के साथ ही सेठजी ने दान भी किया। कोई सौ भिखारियों को तेल का एक-एक पराँठा दिया गया और अस्पताल के ऑपरेशन-रूम को एक घड़ी, जिसके डायल पर सेठजी का नाम सुन्दर अक्षरों में लिखा गया था।

शामियाना उखाड़नेवाले मजदूरों ने जब कुछ माँगा, तो बड़े मुनीमजी ने उन्हें डाँट दिया कि यह काम शामियानेवाले दुकानदार का है, कुछ हमारा नहीं।

और सेठजी अपने घर चले आए। ●

# सुराही और प्रतिमा

मनमोहन उस दिन बड़े चाव से एक सुराही खरीदकर लाया। उसमें उत्साह था कि वह अब ठण्डा पानी पिएगा और पास-पड़ोस के लोग भी उसकी सुराही का ठण्डा पानी पी, अपने में कृतार्थ और उसके प्रति कृतज्ञ होंगे।

खुशी-खुशी उसने सुराही में पानी भरा और चाव से उसने एक बार उसे अपने हाथों पर उठा लिया। पर उसका चाव तो पके पत्ते-सा झर गया; जब उसने देखा—यह सुराही तो पैंदे में रिसती है।

वह सुस्त हो गया, पर तभी चुस्त होकर उठा कि चुटकी-भर आटा गूँद लाया और उसे उसने पैंदे पर साँट दिया।

सुराही काम देती रही।

मनमोहन उस दिन बड़े चाव से सरस्वती की एक प्रतिमा खरीद लाया और उसने उसे विधि-विधान के साथ अपने मन्दिर में प्रतिष्ठित कर दिया।

उसमें उत्साह था कि अब उसकी साधना निरन्तर गतिशील होगी और पास-पड़ोस के लोग भी उसकी प्रतिमा का पूजन कर अपने में कृतार्थ और उसके प्रति कृतज्ञ होंगे।

उसने आरती जलाई और शंख बजाया। चारों ओर से मैं-तू आ जुटे। भक्ति की सुरभि चारों ओर फैल गई।

पूजा कर पास-पड़ोसी लौट आए, पर मनमोहन वहीं बैठा रहा। प्रतिमा औरों के लिए पूजा की वस्तु थी, पर उसका तो वह जीवन-प्राण थी। वह उसमें लीन-सा डूबा रहा।

बीच में एक बार वह विभोर हो, प्रतिमा की ओर उमड़ा, तो उसे बिजली-सी छू गई। भौचक हो उसने देखा—प्रतिमा खण्डित है। उसके पैर की एक उँगली गिर गई है।

वह एकदम शोक के समुद्र में डूब गया।

अब वह चुपचाप मनमारा-सा मन्दिर में बैठा रहता है। लोग पूजा करने आते हैं, तो वह प्रतिमा का पैर फूलों से ढँक देता है। सब उसकी प्रशंसा करते हैं, पर

उसका मन नहीं खिलता!

व्यंग्य से साथी कहते हैं, "ऐसी प्रतिमा के चरणों में बैठकर भी तू सुस्त है अभागे!"

मनमोहन सुनता है, तो उसके कलेजे पर कोई अंगारे की कलम से लिख देता है—ऐसी प्रतिमा!

कभी-कभी वह आप-ही-आप सोचता है—सुराही पर आटा साँटकर काम चला लिया था, तो क्या प्रतिमा पर आटा नहीं सँट सकता?

फिर वह आप-ही-आप कराह उठता है—सुराही सुराही है, प्रतिमा प्रतिमा है! ●

# एक प्रश्न

मैं एक बहुत बड़ी मिल में क्लर्क हूँ और आशा है कि कुछ ही वर्षों में हेडक्लर्क हो जाऊँगा। समय पर अच्छा वेतन मिल जाता है और नौकरी छोड़ते समय अच्छा-खासा प्रोवीडेण्ट फण्ड और पुरस्कार मिल जाएगा। घर में मैं हूँ, पत्नी है, माँ है, दो बच्चे हैं। पड़ोसी भले हैं, मित्र समय पर काम आनेवाले। कहीं कोई अभाव नहीं है—मैं अपने में सन्तुष्ट हूँ, पर सुखी क्यों नहीं हूँ?

शाम को दफ्तर से निकलता हूँ, तो देखता हूँ कि अंग्रेज लोग मस्ती में उछलते, आपस में निर्द्वन्द्व दंगा करते चले जा रहे हैं। उन्हें जैसे कोई चिन्ता नहीं—मस्ती-ही-मस्ती है। एक दिन ब्राऊनिंग कह रहा था, "ओह मि. शारदा, रोटियाँ हम कमा चुके; बस अब कल सुबह नौ बजे तक मौज है और हम हैं।"

मानता हूँ, ब्राऊनिंग ठीक कहता है। सबसे बड़ी चिन्ता रोटी की है; वह पाँच बजे तक कमा चुके, अब मौज-ही-मौज होनी चाहिए, पर मौज कहाँ है? दफ्तर से घर ऐसा जाता हूँ, जैसे अपनी माँ के 'फूल' हरिद्वार लिए जा रहा हूँ।

पत्नी इतनी सुशील है कि सारे पड़ोस में उसका कोई जोड़ नहीं। सदैव मुझमें लीन, थोड़े में सन्तुष्ट, सुन्दर और सरस। मुन्ना जब सर्दियों में बीमार पड़ा तो पाँच सौ रुपए खर्च हुए। कुछ रुपए मित्रों से भी उधार लेने पड़े। जब वह अच्छा हो गया, तो बोली, "जब तक ये रुपए न उतर जाएँगे, मैं कोई कपड़ा न लूँगी और हाँ, तब तक या तो दाल में ही घी लेंगे, या रोटी ही चुपड़ेंगे।"

ऐसी पत्नी को पाकर कौन असन्तुष्ट होगा? कह तो रहा हूँ कि असन्तोष कहीं है ही नहीं; पर सुख भी तो नहीं है! जीवन मशीन के पुर्जे की तरह घूम रहा है। कहीं कोई अभाव नहीं है, कुछ और चाह भी नहीं है। अपनी सीमाएँ जानता हूँ और सोचता हूँ, सभी कुछ तो है। फिर भी सुख क्यों नहीं है? सुख, जो जीवन को ब्राऊनिंग की तरह मस्ती से भर दे।

और बस, जीवन का यही एक प्रश्न! ●

# नन्दन

नन्दन अपने गाँव का एकमात्र धनी था। सारे गाँव में उसकी ऊँची हवेली दूर से दिखाई देती थी। आसपास चारों ओर उसका नाम फैला हुआ था।

उस दिन खबर उड़ी कि आज सन्ध्या के समय गाँव में डाका पड़ेगा और खबर क्या उड़ी, गर्वोन्मत्त डाकू-सरदार ने खुद ही खबर भेजी थी। गाँव में और तो सब गरीब थे, डाकू भला उनका क्या लेते—क्या बिगाड़ते! उनके लिए तो गरीबी आज कवच थी। वे पूरी तरह विश्वस्त थे कि डाके का नोटिस नन्दन के नाम ही है।

नन्दन भी यह जानता था। उस दिन, दिन-भर अपनी हवेली के किवाड़ बन्द किए भीतर घुसा रहा। कैसे वह डाकुओं से अपने माल, मान और प्राण की रक्षा करे, यही उसकी चिन्ता थी।

उसने जेवर और धन अपनी हवेली के पीछेवाले उपवन में जगह-जगह बिखेर दिया। मोतियों का हार नेवले के बिल में रखा, तो सोने की बोरी कुएँ में डाल दी। गिन्नियाँ खाद के गड्ढे में दबाईं, तो रुपयों की थैलियाँ बूढ़े बड़ की खोखल में भर दीं। यही उसने दूसरे कीमती सामान का किया।

उसकी हवेली के पिछले हिस्से में एक बड़ा-सा गड्ढा था। उसमें वह स्वयं बैठा और अपने ऊपर उसने एक टूटा-सा टोकरा ढाँक लिया। सन्ध्या होते ही हवेली का द्वार उसने खुलवा दिया और एक भी कमरा ऐसा न छोड़ा जिसका द्वार बन्द हो या जिसमें कुछ भी व्यवस्थित हो। उसे उस गड्ढे में बैठे, टोकरी की झिरखियों से सारी हवेली दिखाई दे रही थी।

दल-बल सहित रात में डाकू आए, तो वे सीधे नन्दन की हवेली पर पहुँचे। उन्हें विश्वास था कि वहाँ एक पूरे युद्ध की तैयारी होगी, पर यहाँ तो द्वार खुले हुए थे। चौंकते-सँभलते वे भीतर घुसे, पर हवेली तो बिखरी-सी पड़ी थी।

"भाग गया शैतान और सारी दौलत भी साथ ले गया।" डाकुओं के सरदार ने कहा और वे सब हाथ मलते लौट गए। नन्दन का दिल पहले तो धड़कता रहा, पर अब मुस्करा रहा था।

दूसरे दिन गाँव के बड़े-बूढ़ों ने नन्दन के धैर्य और बुद्धिमत्ता की प्रशंसा की, पर कई दिन बाद भी उन्होंने नन्दन को उसी गड्ढे में अपने को ढँके बैठा देखा, तो उन्हें आश्चर्य हुआ।

उन्होंने उसे समझाया कि अब कोई खतरा नहीं है। अपने घर को फिर से व्यवस्थित करो, अपनी सम्पदा को सुन्दर आलमारियों में सजाओ और स्वयं भी अपने सुखपर्यंक पर सोना आरम्भ करो।

नन्दन सबकी सुनता है, सिर हिलाता है, पर मानता नहीं। कहता है—जिस पद्धति ने मेरे प्राण बचाए, धन-सम्पदा की रक्षा की, उसका त्याग भला मैं कैसे कर सकता हूँ? ●

# इंजीनियर की कोठी

मेरे नगर में नहर के जो नए इंजीनियर आए हैं, वे साहित्य में अभिरुचि रखते हैं, इसलिए मेरा भी उनसे मेलजोल हो गया है।

मुझे उनकी कोठी पर कभी-कभी जाना भला लगता है। बात यह है कि कोठी अपने में इतनी पूर्ण है कि देखकर आश्चर्य होता है। इंजीनियर साहब की भोजन-मेज पर जब भी कोई ऋतु का फल आता है, वे कहते हैं—यह कोठी के बाग का फल है भाई साहब!

मैं जब-जब उनके यहाँ जाता हूँ, तो उनकी कोठी का पूरा एक चक्कर अवश्य लगाता हूँ। कोठी तो कायदे से बनी है ही, उसका बगीचा भी बहुत करीने से लगाया गया है। कहा जा सकता है कि वह पारिवारिक उपवन है—एक परिवार के लिए आवश्यक सभी चीजें उसमें हैं।

उस दिन मैं वहाँ के बड़े माली से बातें कर रहा था कि मुझे खोजते इंजीनियर साहब भी आ गए। उन्हें देखते ही माली बोला, "सरकार, अपने बाद आनेवालों के लिए आप भी कोई पेड़ लगा दीजिए।"

मैंने पूछा, "अपने बाद आनेवालों के लिए! क्या मतलब?"

बूढ़ा माली हँसा! तब बोला, "बाबूजी, इस कोठी का कुछ रिवाज ही ऐसा है कि यहाँ अपने करम का फल कोई नहीं भोगता!"

बात उलझ गई थी, उसे सुलझाते हुए-से मैंने पूछा, "फिर किसके कर्मों का फल यहाँ भोगते हैं भाई?"

"दूसरे के कर्मों का फल बाबूजी!" बात सुलझ न पा रही थी; मैंने कहा, "ठीक-ठीक समझाओ मालीजी!"

बोला, "बाबूजी, जब कोठी बनी तो यह बागवाली जमीन खाली पड़ी थी। बस कोठी के सामने थोड़ी-सी फुलवारी थी, और कुछ नहीं। सबसे पहले मैकडोनल साहब आए। उन्होंने इसमें दो पेड़ कलमी आम और दो पेड़ लोकाट के लगवाए। अपने आप पानी दिया करते थे वे इनमें, पर बाबूजी, जिस साल लोकाट पर फुँगरी लगी, उनकी बदली हो गई। जाते-जाते भी वे इस लोकाट को ही देखते रहे।

उसके बाद हार्ट साहब आए। उन्होंने खूब लोकाट और आम खाए और नाख के दो पेड़ लगाए, पर जिस साल नाख फला, वे विलायत चले गए। बस यूँ ही नए-नए साहब आते गए और बाग बढ़ता गया। आज जो फालसा आपने खाया है, वह हमारी सरकार से पहलेवाले साहब ने लगवाए थे दो पेड़! जाने क्या बात है सरकार, कि इस कोठी में किसी को अपने लगाए पेड़ का फल नहीं मिलता। पता नहीं ऊपरवालों को कुछ चिढ़ है क्या कि ऐसे समय पर वे हमारे साहबों की बदली करते हैं।"

इंजीनियर साहब चुप थे। वे शायद कुछ सोच रहे थे कि बाग में क्या लगाया जाए, पर तभी मैंने कहा, "कोठी का बाग ही क्या, सारे विश्व का विकास ही इस पद्धति पर हुआ है कि हम अपने पूर्वजों के परिश्रम का फल भोगें और आनेवालों के लिए परिश्रम करें!"

इंजीनियर साहब ने कहा, "आनेवाले हमें मान के साथ स्मरण करें या फिर गालियों के साथ, यह इस बात पर निर्भर है कि हमारा आज का निर्माण किस कोटि का है।"

मैं सोच रहा था—तो हमारा वर्तमान ही नहीं हमारा भविष्य भी हमारी मुट्ठी में है—जीवन ही नहीं, स्वर्ग भी! ●

(सभी लघुकथाएँ 'आकाश के तारे : धरती के फूल' से, 1952)

# *जगदीशचन्द्र मिश्र*

जन्म : सन् 1910 ई.
जन्मस्थान : सहारनपुर (उत्तर प्रदेश)
प्रकाशित कृतियाँ : आठ लघुकथा-संग्रह—पंचतत्त्व, खाली भरे हाथ, उड़ने के पंख, मिट्टी के आदमी, धूल के फूल, ऐतिहासिक लघुकथाएँ, माणिक-मोती, हीरे-मोती
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' अपनी पत्रिका 'नया जीवन' में जगदीशचन्द्र मिश्र के जीवन व रचनाओं को स्थान देते रहे हैं
निधन : सन् 1996 ई.

## संकलित लघुकथाएँ

दो फोन : दो अदालतें, राज्याश्रय, धूल-मिट्टी की परत, स्त्री-पूजा, अमृत की घूँट, गरीबी-अमीरी, पुष्टई की दवा, संसार का नियम, आतिथ्य-लाभ, भाई-भाई, मिट्टी के आदमी

# दो फोन : दो अदालतें

सुशीला जैसे ही कमरे से उठकर रसोईघर का बाकी काम निपटाने रसोई में गई, वैसे ही माधुरी ने फोन उठाकर कहा, "हलो, वन, थ्री, फाइव प्लीज!"

"हलो, कौन बोल रहा है?" दो क्षण में फोन बोल उठा।

"मैं, माधुरी! डॉक्टर!" आवाज बहुत पहचानी हुई थी।

"हलो, माधुरी! तुम! तुम्हारी ममी इस समय कहाँ हैं?"

"रसोईघर में!"

"कमरे में तुम अकेली?"

"हाँ, बिलकुल अकेली।"

"तो बताओ, आज का अपना प्रोग्राम?"

"सिविल लाइन्स, ललित रेस्टोरेण्ट। ढाई बजे। यूनिवर्सिटी टाइम में, डियर!"

"अरे, उस समय तो तुम अपने गाइड के पास होगी, थीसिस के सम्बन्ध में?"

"फिर क्या बात है?" माधुरी ने उत्तर दिया, "आज तुम ही मुझे गाइड कर देना।...दुनिया में अकेले दिमाग की ही तो आदमी को भूख नहीं होती, डॉक्टर! दिल की भी तो भूख होती है। आज उसी पर शोध करने दो।"

डॉक्टर बहुत दूर अपने फोन पर खड़ा हुआ भी सिर से पैर तक गुदगुदा गया। उसकी गुदगुदाहट आतुर होकर फोन पर कुछ बोलने जा रही थी कि सहसा सुशीला रसोईघर से अपने कमरे में लौट आई। माधुरी ने सहमकर फोन रख दिया। सुशीला ने पूछा, "कौन बोल रहा था, माधुरी?"

उस घबराहट में माधुरी के मुख से निकल आया, "कोर्ट से पापा बोल रहे थे, ममी! कह रहे थे—आज लंच के लिए जो खाना तुम्हारी ममी ने भेजा है, उसमें वे दही रखना भूल गईं। और तुम जानती हो, दही मेरे लंच और डिनर दोनों के लिए कितना जरूरी है।"

माधुरी की बात सुन सुशीला तत्काल अपने रसोईघर के नौकरों पर चीखती हुई फिर कमरे से बाहर निकल आई, "दुष्टो! यहाँ आओ! बताओ—आज साहब के

लंच का खाना किसने लगाया था? आज मैं तुम लोगों को सजा दिए बिना नहीं छोड़ूँगी। ऐसे भी तुम लोग क्या अन्धे हो गए, जो सब दिन देखते हुए भी आज साहब के लंच में दही लगाना भूल गए!"

अपनी ममी के पीछे माधुरी भी कमरे से बाहर निकल आई थी। अपनी ममी को पूरे मनोयोग से रसोईघर के नौकरों से जूझते देख वह दबे पाँव फिर अपनी ममी के कमरे में गई और फोन मिलाकर उसने कोर्ट में अपने पापा से कहा, "पापा! अभी-अभी कोर्ट से आपका फोन मिला था। आज के आपके लंच में ममी की भूल से दही छूट गई है। मैं अभी दूसरे नौकर से दही भिजवा रही हूँ।"

उसके पापा कुछ उत्तर दें उसके पहले ही उसने फोन रख दिया।

साहब लंच कर चुके थे। उन्होंने खाने में दही भी खाई थी। उन्हें बेहद झुँझलाहट हो आई—किसी शैतान ने झूठमूठ दही भिजवाने के लिए घर पर फोन कर दिया। उन्होंने तत्काल अपने पेशकार को बुलाकर कहा, "लंच-रूम के दोनों चपरासियों को इसी समय मेरे सामने हाजिर करो, पेशकार! मैं उन दोनों को सख्त सजा दिए बिना नहीं छोड़ूँगा। दोनों दिन-दिन सिर चढ़ते जा रहे हैं। हमारे घर पर आँख बचाकर झूठे फोन करने लगे हैं!" ●

# राज्याश्रय

एक दिन एक सिंह अपने आखेट से बहुत उदास, बहुत निराश टूटते-से पैरों से अपने घर वापस लौटा। उसकी सिंहनी ने देखा तो उसका हृदय धक् से होकर रह गया। अपने सिंह का चेहरा उसे बहुत ही मलिन, स्फूर्तिहीन, जीवन की आभा से शून्य-सा दिखाई दिया।

उसने भारी दुःख से कहा, "यह क्या, प्रियतम! क्या मेरा सिंह आज सिंह नहीं रहा? सिंह का मुख और जीवन की आभा से शून्य? सिंह की गति साहस और स्फूर्ति से हीन?"

"सिंह तो हूँ, प्रिये!" सिंह ने मन्द वाणी से उत्तर दिया, "पर कुछ चिन्तित हूँ!"

"ऐसी क्या चिन्ता है?" सिंहनी ने बहुत उद्वेगपूर्वक पूछा।

"प्रिये!" सिंह ने उत्तर दिया, "मैं आज अपने आखेट का पीछा करते-करते एक राजपथ के निकट चला गया था। वहाँ मैंने देखा—एक प्रसन्न गजराज बहुमूल्य राजकीय वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, अपनी पीठ पर एक संरक्षक को बिठाए बहुत-से राजसेवकों के साथ, मदमत्त गति से चला जा रहा था। उस अहंकारी की आँखों में उस समय अपने राजकीय पद और स्वाभिमान का अभूतपूर्व उल्लास भरा था। उसकी गति में उस समय अपने ऐश्वर्य का मदान्ध गाम्भीर्य फूट रहा था।"

"तुमने उस अहंकारी का उसी समय वध क्यों नहीं कर दिया?" सिंहनी ने क्रोधपूर्वक कहा, "सिंह तो अपनी आँखों में किसी का अहंकार, किसी की मदान्धता कभी स्वीकार नहीं करते!"

"वध तो उसका उसी समय कर देता, प्रिये!" सिंह ने डरते-डरते कहा, "पर मैं एक बात सोचने लगा!"

"क्या?" सिंहनी ने उद्वेगपूर्वक पूछा।

"मैं उस समय यह सोचने लगा", सिंह ने बताया, "यह राज्याश्रय भी संसार में कितनी बड़ी चीज है! यह संसार में ढेरों सम्मान देता है; बहुत ऐश्वर्य देता है; संरक्षण देता है; यदि किसी तरह, आज मैं भी सिंह के बदले गजराज होता?"

"नहीं, नहीं, सिंह के बदले आज गजराज नहीं, तुम राजा के श्वान होते", सिंहनी तड़पकर बोली, "तो बहुत अच्छा होता। वैसा होने पर राज-सम्मान के अतिरिक्त अहर्निश राजा का सान्निध्य, राजपुत्रों का प्यार-दुलार और दोनों समय प्रतिदिन सुन्दरी राजमहिषियों के कोमल करों से तुम दुग्धपान करते!"

लज्जा से सिंह वहीं खड़ा-खड़ा पृथ्वी में गड़ गया। ●

# धूल-मिट्टी की परत

एक दार्शनिक एक दिन अपने एक प्रश्न में बुरी तरह उलझ रहा था। उसका प्रश्न था—

'न जाने यह क्या बात है, अपने ऊपर करारी चोट खाने से जड़ लोहा असि होकर संसार में वीरों की कटि की शोभा बनता है; निर्जीव पत्थर कटते-पिटते देवता बन जाता है और संसार में देव-मन्दिरों की ऊँची वेदियों में स्थान पाता है; चेष्टाहीन स्वर्ण सुनार के हाथ की मार खाते-खाते सुन्दर आभूषण का रूप ग्रहण करता है और संसार की मृगनयनियों के कण्ठ में स्थान पाता है। करारी चोट पड़ते ही सब अकिंचन से महान् हो जाते हैं, पर यह मनुष्य न जाने क्यों अपने ऊपर करारी चोट खाने में असहाय हो, नीचे पृथ्वी पर गिर पड़ता है; अपनी उन्नति नहीं करता; अपने स्थान से ऊपर नहीं उठ पाता!'

पर घण्टों अपना सिर खपाने पर भी उसे अपने प्रश्न का कोई समाधान नहीं सूझ रहा था। हारकर वह दौड़ा-दौड़ा अपने गुरु के पास गया और उनके सम्मुख उसने अपना यह प्रश्न उपस्थित किया।

उसके गुरु उस समय न जाने कैसी झुँझलाहट में थे। उन्होंने अपनी झुँझलाहट में ही उसके प्रश्न का समाधान किया, "मूर्ख! यह मनुष्य न केवल लोहा, न केवल सोना और न केवल पत्थर है। यह तो तीनों का सम्मिश्रण है; और साथ ही बहुत-सी पानी-मिट्टी की परत भी उस पर चढ़ी हुई है, जिससे वह उसके भीतर-बाहर बुरी तरह दबा हुआ है।"

"तब तो गुरुजी!" दार्शनिक ने ऊपर उछलकर कहा, "उसे अपने ऊपर करारी चोट खाने से निश्चय ही अपने स्थान से ऊपर उठना चाहिए; अवश्य संसार में अकिंचन से महान् बनना चाहिए। आपके कथनानुसार—संसार में ऊपर उठनेवाले पदार्थों सोना, लोहा, पत्थर—तीनों का वह सम्मिश्रण है और साथ में धूल और पानी भी उसमें हैं। वे दोनों भी ऊपर उठनेवाले हैं। धूल पर पत्थर फेंको तो तत्काल आकाश में ऊपर उड़ जाती है; जल में ढेला मारो तो वह भी तत्काल अपनी जगह

से ऊपर उछल जाता है!"

उसकी बात सुनकर गुरु ने सरोष उत्तर दिया, "पागल! इतना भी नहीं समझता—मिट्टी और पानी मिलकर सब कीचड़ हो जाता है; और कीचड़ को जितना जोर से पीटो उतना ही नीचे दब जाती है, ऊपर नहीं उठ पाती; चाहे उसके भीतर सोना, लोहा क्या, सब रत्न-ही-रत्न भरे पड़े हों!" ●

# स्त्री-पूजा

दीपावली की अमावस की रात थी। मैं तन्मयता से रामायण के सुन्दरकाण्ड का पाठ कर रहा था। पढ़ते-पढ़ते बहुत रात बीत गई। आँखें बलात् मुँदने लगीं। उस अर्द्ध-चेतनावस्था में मैंने अपना माथा फिर तकिए पर रख दिया। माथा तकिए पर रखते ही सहसा मेरा सारा कमरा किसी भव्य प्रकाश से जगमगा उठा। उसमें एक दिव्य नारी-मूर्ति प्रकट हुई। सहस्रों चन्द्रमाओं जैसा उसके सौन्दर्य का आलोक था। मैं उस आलोक को देखकर उसी में डूबने लगा।

उस मूर्ति ने सचेत कर मुझे सम्बोधन किया, "भद्र! मैं नारायण की प्रिया महामाया लक्ष्मी हूँ। आज उन सब दरिद्रों को धन-धान्य से पूर्ण करने आई हूँ, जिनके घर में तन-मन से नित्य स्त्री-पूजा होती है।"

मैं आजन्म अभी तक लक्ष्मी की कृपा से वंचित था। हर्षविभोर हो, मैं तत्काल देवी के चरणों में झुक गया और बोला, "महामाया! आज मुझ पर भी तुम्हारी कृपा हो! मैंने स्त्री को कभी अपना दास नहीं माना, सदा गृहस्वामिनी समझा। सब लौकिक कार्यों में एक सखा की तरह उससे मन्त्रणा की; पारलौकिक कार्यों में कभी उसे अपने से दूर नहीं किया।"

महामाया ने मेरी कही बातों की उपेक्षा कर जोर का अट्टहास किया। फिर बोलीं, "वह सब-कुछ नहीं, जो मैं पूछती हूँ उसका ठीक-ठीक उत्तर दे—तेरी स्त्री पूर्ण स्वतन्त्र है?"

मैं महामाया का मुँह ताकने लगा। महामाया की पूछी पूर्ण स्वतन्त्रता का अर्थ मेरी समझ में नहीं आया।

महामाया ने दो क्षण मेरा मुँह देखकर फिर कहा, "अरे, समझा नहीं? अच्छा, बता—सभा-सोसाइटी, राज्यद्वार, सखा-सखि, मित्र-परिचित—सबके यहाँ आने-जाने में तेरी ओर से तेरी स्त्री को पूर्ण स्वतन्त्रता है?"

देवी-देवताओं के सामने झूठ बोलना मना है। मैं सत्य उत्तर देते हुए डरा। फिर मैंने साहस कर कहा, "ऐसा तो महामाया! स्त्री-मर्यादा के विरुद्ध है, और..."

"पागल!" महामाया ने बीच ही में मुझे रोककर कहा, "अच्छा, दूसरी बात बता—तेरी स्त्री को अपनी रुचि का वस्त्र, अपनी रुचि का भोजन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है?"

महामाया की इस बात का मेरे पास उत्तर था। मैंने कहा, "महामाया! हमारे यहाँ एक लोकोक्ति है—खाइए मन-भाता, पहरिए जग-भाता! खाने-पीने में मेरी स्त्री को पूरी स्वतन्त्रता है, पर पहरने में सामाजिक लोकाचार का थोड़ा-सा बन्धन...!"

महामाया ने मेरी इस बात की भी उपेक्षा की, "अच्छा, तो तीसरी बात बता—तूने पर-पुरुषों के साथ, आहार-विहार करते समय, उसका स्त्री-सुलभ स्वाभाविक संकोच भी अपने यत्न से अभी तक दूर किया या नहीं?"

महामाया के इस प्रश्न पर मुझे तनिक क्रोध उभर आया। मैंने कहा, "देवि! कैसी बात कहती हैं? यह तो आदरणीय गृहस्वामिनियों के लिए बहुत ही लज्जा की बात है!"

महामाया ने मेरी इस बात पर क्रोध से भरा इतने जोर का अट्टहास किया कि मेरे कमरे की चारों दीवारें काँप उठीं। मैं बुरी तरह डर गया। उन्होंने भर्त्सना के साथ कहा, "कुपात्र! बीसवीं सदी में खड़ा है और बात करता है राम के युग की? मूर्ख! इतना भी नहीं जानता—पुराने विधान-उपविधानों में सर्वदा समय-समय के अनुसार संशोधन होते ही रहते हैं। स्त्री-पूजा अपने स्वरूप में आज भी वही पुरानी स्त्री-पूजा है; पर आज के समय में उसके विधि-विधान आमूल बदल गए हैं!" और वह उल्टे पाँव, धन-धान्य से पूर्ण किए बिना ही, कमरे के फर्श पर क्रोध से पाँव पीटती हुई, वापस चली गईं।

तुरन्त कमरे में फिर पूर्ववत् अन्धकार व्याप्त हो गया। ●

# अमृत की घूँट

गंगा किनारे सन्तों की अनेक कुटियाँ थीं। सभी सन्त सब दिन भजन-पूजन में लगे रहते या लोगों को भले-बुरे का उपदेश देने के लिए जब इच्छा होती नगरों-ग्रामों में विचरण किया करते। एक बार एक बहुत बूढ़ी स्त्री सिर से पैर तक श्वेत वस्त्र पहने, सिर पर एक सोने का कलश और हाथ में एक कमण्डल लिए पहाड़ से नीचे उतरकर उन सन्तों की कुटिया में आई और उच्च स्वर से कहने लगी, "सन्तो! तुम सब इकट्ठे होकर गंगा-तट पर आओ। मेरे सिर पर, देवस्थान से बड़े यत्न से लाया हुआ, अमृत से भरा एक सोने का कलश है। मैं निश्चयपूर्वक जानती हूँ कि तुम सब निष्पाप हो, बाल्यकाल में ब्रह्मचारी रहे हो, युवाकाल में कठिन तपस्वी और अब अपनी इस प्रौढ़ावस्था में जन-कल्याण की भावना से संसार को धर्मोपदेश देते हो। मैं तुम सबको, मनुष्य को अजर-अमर कर देनेवाले, इस स्वर्ण-कलश के अमृत की एक-एक घूँट आज पिलाऊँगी!"

वृद्ध स्त्री यह कहकर अपना सोने का कलश सिर पर लिए गंगा-तट पर जा बैठी। कुछ ही देर में अपनी-अपनी कुटिया से निकल-निकलकर सब सन्त गंगा किनारे उस बूढ़ी स्त्री को चारों ओर से घेरकर खड़े हो गए।

उस बूढ़ी स्त्री ने सब सन्तों को अपने सम्मुख आया देख अपने सिर पर से अमृत से भरा स्वर्ण-कलश नीचे उतारा और उसे तिरछा कर सन्तों को पिलाने के लिए अपना कमण्डल अमृत से भर लिया।

सब सन्त स्वयं ही अनुशासनबद्ध होकर एक-एक करके चुल्लूबद्ध हो एक लम्बी पंक्ति में खड़े हो गए।

बूढ़ी स्त्री तुरन्त उठकर खड़ी हुई और अपना कमण्डल सन्तों की ओर झुकाकर बोली, "आदरणीय सन्तो! बड़े यत्न से देवस्थान से लाए हुए, मनुष्य को अजर-अमर करनेवाले, इस स्वर्ण-कलश के अमृत में एक भारी दुर्गुण भी है। यह भूल से यदि किसी अपात्र के उदर में चला जाता है तो तुरन्त उदर विदीर्ण कर अपने आप बाहर निकल आता है और उदर के फट जाने से उसी समय उस व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है।"

सब सन्तों ने डरकर सम्मिलित स्वर में उस बूढ़ी स्त्री से पूछा, "देवस्थान से बड़े यत्न से लाए हुए, मनुष्य को अजर-अमर करनेवाले तुम्हारे इस अमृत की पात्रता क्या है, देवि?"

"जो संसार में सदा आत्म-निर्भर हो", वृद्धा स्त्री ने उत्तर दिया, "जो कभी किसी दूसरे का भाग न खाता हो।"

सब सन्त परस्पर एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। वे सब संसार-विरक्त साधु थे तो क्या, परन्तु सब सर्वदा रोटी तो दूसरों के घर से ही लाकर खाते थे और अपने जीवन में सर्वथा दूसरों पर निर्भर थे। सब सन्तों को निराशा से एक-दूसरे का मुँह ताकते देख उस वृद्धा स्त्री का उनकी ओर झुकता-झुकता कमण्डलवाला हाथ एकदम ऊपर उठ गया और उसने कहा, "आदरणीय सन्तो! यह अमृत का भरा घट देवस्थान से मैं अपने बाल्यकाल में लाई थी। इसे सिर पर रक्खे-रक्खे और यही सोचते-सोचते मेरी युवावस्था बीत गई कि संसार में इसकी दो घूँट किसी को दूँ या न दूँ? अब इस वृद्धावस्था में तुम सब तपस्वियों को देखकर निश्चिन्त हुई। यह सारा संसार तो प्रायः गृहस्थ-बहुल है और इसे कौन नहीं जानता—गृहस्थियों का सारा जीवन तो प्रायः एक-दूसरे का भाग छीनने में ही बीत जाता है। उन लोगों के पूर्णतः आत्मनिर्भर होने की बात भी मैं कैसे सोचती? तुम लोग तो सर्वदा संसार से विरक्त हो; संसार की माया-मोह से दूर हो; सर्वथा निष्पाप हो। आओ, निर्भय होकर आगे बढ़ो। संसार में अजर-अमर करनेवाले मेरे इस स्वर्ण-कलश के अमृत की दो-दो घूँट पीओ।"

सब सन्त फिर से परस्पर एक-दूसरे का मुँह ताकते रहे, निश्चल खड़े रहे और भय से मन-ही-मन काँपते रहे। वृद्धा स्त्री ने अपना कमण्डल उनकी ओर झुकाते हुए अपनी बात तीसरी बार फिर दोहराई, परन्तु तीसरी बार भी सब सन्त पहले ही की तरह भयभीत-से निश्चल ही खड़े रहे।

तीसरी बार भी सब सन्तों को सहमे हुए देख वृद्धा स्त्री ने अपना अमृत से भरा कमण्डल नीचे रख दिया और दौड़कर प्रत्येक सन्त का उसने बारी-बारी से मुँह देखा।

उसकी दृष्टि में न जाने कैसा दिव्य तेज था कि जिसको उसने देखा, उसी से वह नहीं सहा गया। सबने अपनी आँखें नीचे झुका लीं। तब उस वृद्धा स्त्री ने तेजी से अपना कमण्डल नीचे से ऊपर उठाया और उसका सारा अमृत अपने आप पी गई। उसके बाद अपने सिर पर रखा हुआ अमृत से भरा सोने का कलश उसने गंगा के बहते पानी में फेंक दिया और जिधर से आई थी, उधर ही चली गई।

गंगा की धारा उसी समय उस अमृत के प्रभाव से आदि से अन्त तक श्वेत हो गई। ●

# गरीबी-अमीरी

बहुत पुराने समय में, जिस समय सबसे पहले इस पृथ्वी का कोई राजा हुआ, एक मनुष्य दो अपराधिनी स्त्रियों को पकड़ राजा के सम्मुख लाया।

राजा ने पूछा, "इनका अपराध?"

"इन दोनों का अपराध, राजन्!" उस मनुष्य ने उत्तर दिया, "प्रायः एक-सा ही है; पर है बहुत भयानक, जिसका दण्ड निर्मम मृत्यु-दण्ड भी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता!"

"ऐसा क्या अपराध है इनका?" राजा ने फिर पूछा।

उस मनुष्य ने एक का हाथ पकड़कर कहा, "यह निर्दय! संसार में जिसका हाथ पकड़ती है, उसे कभी भर-पेट भोजन नहीं देती, पहनने को वस्त्र नहीं देती। इतना ही नहीं, सब दिन उसे पग-पग पर दूसरों से अपमानित कराती रहती है। इसकी निर्मम क्रूरता की सीमा पूरी तरह बताई नहीं जा सकती, राजन्! बस, यह संसार में अपने आश्रितों को न कहीं सुख-चैन से जीने देती है और न सुख-चैन से मरने देती है!"

उस मनुष्य की बात सुनकर राजा ने क्रोध भरी आँखों से उस स्त्री की ओर देखा।

उसके बाद उस मनुष्य ने दूसरी स्त्री का हाथ पकड़कर कहा, "राजन्! यह पापिनी उससे भी अधिक दुष्टा है। यह संसार में जिसका भी हाथ पकड़ती है, उसे तत्काल अपने प्रमाद से भर देती है। यह अपने से छोटों से नफरत करना सिखाती है। दिन-दिन मनुष्य का अहंकार बढ़ाती है। उसे दूसरों को लूटना सिखाती है। इसके दोष कहाँ तक कहूँ—सब दिन इस भ्रष्टाचारिणी के दाएँ हाथ में ऐयाशी भरी रहती है और बाएँ हाथ में निरे छल से भरा संसार का राग-द्वेष!"

दूसरी स्त्री का अपराध सुनकर राजा की आँखों में खून उबलने लगा। उसने तुरन्त अपने सैनिकों को बुलाकर कहा, "इन दोनों दुष्टा स्त्रियों को ले जाकर बन्दीगृह की काल कोठरियों में बन्द कर दो। कल मैं इनका यथोचित न्याय करूँगा और इन्हें कठोर दण्ड दूँगा। आज मुझे अन्य महत्त्वपूर्ण राजकीय कार्य करने हैं।"

वह आदमी जो उन्हें पकड़कर लाया था, राजा की बात से सन्तुष्ट होकर लौट गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही राजा बन्दीगृह में गया और उन दोनों अपराधिनी स्त्रियों में से एक को अपने सम्मुख बुलाकर उसने पूछा, "पापिनी! तुझे अपना अपराध स्वीकार है?"

"हाँ राजन्!" अपना सिर नीचा कर जोर-जोर से रोते हुए उसने उत्तर दिया।

"तुझे भी अपना अपराध स्वीकार है?" राजा ने दूसरी स्त्री से पूछा।

दूसरी स्त्री राजा से तनिक भी भयभीत नहीं हुई, उल्टे अपनी मुस्कराहट में नारीत्व का सारा आकर्षण भर, उसे राजा के ऊपर, एक ही दृष्टि में उँडेलती हुई, मन्द मधुर स्वर में बोली, "हाँ राजन्! स्वीकार है।"

राजा ने उस समय उसकी मुस्कराहट की कोई परवाह नहीं की। वह नीची निगाह कर पहली स्त्री का न्याय लिखने बैठ गया। उसने पहली स्त्री से, जिसकी जर्जर काया पर न कोई सुन्दर वस्त्र था, न कोई आभूषण, कहा, "मेरे आदेश से पापिनी! जब तक तेरे शरीर से तेरे प्राण न अलग हो जाएँ, तुझे नगर के चौराहे पर खड़ा करके निरन्तर कोड़े लगाए जाएँगे!"

पहली स्त्री अपना दण्ड सुनकर भय से काँपने लगी।

अपनी दण्डाज्ञा सुनाकर राजा ने उससे पूछा, "तेरा नाम क्या है, अभागिनी?"

"गरीबी!" उसने जोर-जोर से रोते हुए कहा।

उसका नाम सुनकर राजा ने अपने मन में कहा, "चलो, अच्छा हुआ; इस पापात्मा का तो संसार से नाश होना ही चाहिए!"

उसके बाद राजा ने दूसरी स्त्री से कहा, "तुम देखने में तो सभ्य-सुसंस्कृत-सी जान पड़ती हो। फिर भी तुम अपराधिनी तो हो ही! मैं तुम्हें देश-निर्वासन का दण्ड देना चाहता हूँ। तुम अपने को उसके लिए तैयार करो।"

दूसरी स्त्री स्वभाव से बहुत उद्धत थी। अपने लिए देश-निर्वासन का दण्ड सुनकर भी वह धीरे-धीरे निर्भीकता से राजा के सिंहासन तक बढ़ गई और अपनी कोमल बाहु राजा के मस्तक पर रखकर उसने स्नेहासिक्त वाणी में कहा, "उससे पहले एक बार मेरा नाम तो जान लो!"

"क्या नाम है तेरा?" राजा ने पूछा।

"अमीरी!" उसने उत्तर दिया।

उसका नाम सुनते ही, राजा का वह कलम, जिससे वह उसका न्याय लिख रहा था, उसके हाथ से छूटकर पृथ्वी पर जा गिरा और कुछ देर के लिए राजा ने अपनी निगाह उसके सलोने चेहरे पर टिका दी।

उस दूसरी स्त्री के चेहरे में न जाने कैसा जादू था कि कुछ क्षण बाद ही राजा ने उसका हाथ पकड़कर उसे अपनी ओर खींचते हुए कहा, "फिर भी तुम्हारे अपराध का दण्ड तो मैं तुम्हें दूँगा ही। अब मैं तुम्हें जन-जन में स्वच्छन्दता से नहीं घूमने दूँगा; सदा अपने राज्याश्रय में ही बन्दी रक्खूँगा।"

राजा की यह दण्डाज्ञा सुनकर अमीरी ने उसी समय अपनी कोमल बाहुएँ राजा के मस्तक पर से उठाकर उसके गले में डाल दीं।

उसी दिन से अभागिनी गरीबी राजाज्ञा से निशदिन नगर के चौराहे पर खड़ी होकर अनगिनत कोड़े खाने लगी; परन्तु न जाने विधि ने उसकी वज्र देह कैसी अजर-अमर कर इस संसार में भेजी थी कि निशदिन निरन्तर कोड़े खाकर भी वह असीम वेदना से कराहती सब दिन जीती रही, पर मरी आज तक नहीं, और कौन जानता है आगे भी कभी मरेगी या नहीं! ●

# पुष्टई की दवा

रामकिशोर रात के अँधेरे में चुपचाप रजनी के कमरे के द्वार से आ लगा और दो मिनट चारों ओर सतर्क दृष्टि से देखकर उसने रजनी के द्वार पर अपनी तरह की एक निश्चित आहट पैदा की।

रजनी दौड़कर तुरन्त अपने कमरे के द्वार पर आई।

रामकिशोर ने उसका हाथ पकड़कर कहा, "आज..."

"नहीं", रजनी ने बहुत धीमी आवाज से कहा, "आज तो वे सन्ध्या से ही घर पर हैं और दस-पाँच मिनट को भी कहीं बाहर जानेवाले नहीं।"

रामकिशोर ने कहा, "फिर भी कोई उपाय!..."

"कुछ नहीं।"

"कुछ तो सोचो!"

"पागल हुए हो! जब वे घर पर हैं—मैं क्या उपाय कर सकती हूँ, मैं लाचार हूँ।"

"मैं बताऊँ?"

"बताओ!"

"लो", रामकिशोर ने अपना हाथ बढ़ाकर कहा, "ये दो नींद की गोलियाँ हैं। इन्हें किसी तरह आज उन्हें खिला दो। कल मैं चार-पाँच दिन के लिए शहर से बाहर जा रहा हूँ, इसीलिए आज तुमसे इतना आग्रह कर रहा हूँ।"

"पर खिलाऊँ कैसे?"

"दूध या चाय में।"

"खाने-पीने में बहुत सयाने हैं, शक्की हैं; सब चीजों का स्वाद पहचानते हैं। तुरन्त पहचान लेंगे।"

"यह तुम जानो; कुछ भी करो।"

"मैं क्या जानूँ? कोई छोटे-से बालक थोड़े ही हैं; जो जबर्दस्ती उनके गले में उतार दूँगी।"

रामकिशोर ने अपना मुँह फुलाकर कहा, "तुम नहीं जानतीं, तो लो मैं जा

रहा हूँ और आज के बाद फिर कभी तुम्हारे पास नहीं आऊँगा।"

"ऐसा मत करना।" रजनी ने घबड़ाकर अपनी दोनों बाँहें रामकिशोर के गले में डालकर कहा।

रामकिशोर ने उसके दोनों हाथ नाराजगी के साथ अपने गले से दूर करते हुए कहा, "फिर कोई उपाय करो न आज?"

"अच्छा!" रजनी ने मन-ही-मन कुछ सोचकर उत्तर दिया, "तुम नाराज मत होओ। मैं सच कहती हूँ—मेरा वश चलेगा तो मैं कुछ-न-कुछ अवश्य ही करूँगी।"

"बस, ठीक है!" रामकिशोर ने प्रसन्न होकर कहा, "मैं आज रातभर तुम्हारे कमरे के आस-पास ही रहूँगा।"

रजनी लौटकर जब अपने पति के पास कमरे में आई तब वे मनोयोगपूर्वक 'मनोरमा' की कोई कहानी पढ़ रहे थे। उन्होंने रजनी के आते ही लापरवाही से पूछा, "कौन था?"

"वही, पड़ोसिन का रामू।" रजनी ने उत्तर दिया, "दिनभर यहीं आँगन में खेलता रहता है। रात में कभी-कभी अपनी माँ की आँख बचाकर मीठा मुँह करने के लालच में मेरे पास दौड़ आता है। आज घर में कुछ था ही नहीं जो उसे कुछ दे देती। पगले को बहुत देर समझा-बुझाकर अपने घर लौटाया है।"

रजनी के पति ने अपनी कहानी पढ़ते-पढ़ते ही कहा, "कल से कचहरी से वापसी में मैं उस शैतान के लिए जरूर कुछ मीठा ले आया करूँगा।"

रजनी अपना अधबुना स्वेटर अपने हाथ में उठाकर अलग से अपने पलंग पर जा बैठी।

कुछ देर बाद उसके पति ने 'मनोरमा' को रख दिया और अलसाए भाव से एक अँगड़ाई लेते हुए कहा, "रोशनी बन्द करो; अब सोएँगे।"

रजनी दूसरी विवाहिता थी। अपने पति के मन चढ़ी हुई थी। पति के यह कहते ही अपने पलंग से कूदकर उसने अपनी दोनों बाँहें अपने पति के गले में डालकर मुग्ध भाव से कहा, "आज मेरी एक बात मानोगे?"

"क्या?"

"मैंने तुम्हारे लिए खाने की कोई चीज बनाई है!"

"पर इस समय मुझे भूख नहीं है।"

"भूख के लिए नहीं!"

"तब?"

रजनी ने अपना मुँह दूसरी ओर फिराकर बन्द कर लिया...

"कोई दवा है?"

"हाँ!"

"किसने बताई?"

"मेरी भाभी कभी-कभी मेरे भैया को खिलाया करती थी। आपको मालूम नहीं—मेरे भैया ने बहुत बड़ी अवस्था में अपनी शादी की थी।...बड़ी अच्छी दवा है।"

"तब ले आओ।"

"पर एक बात है?"

"क्या?"

"उसे पीकर पहले-पहल कुछ देर बहुत घुमेर आती है; भारी नशा छा जाता है; आँखें बन्द हो जाती हैं।...सो मत जाना।"

"कोशिश करूँगा—नींद न आए।"

"कोशिश नहीं; वायदा करो—सोओगे नहीं?"

"अच्छा, नहीं सोऊँगा!"

रजनी ने तुरन्त भीतर जाकर रामकिशोर की दी हुई नींद की दोनों गोलियाँ दो चम्मच पानी में घोलकर अपने पति को पिला दीं। दस मिनट में ही वे अचेत होकर सो गए।

प्रातःकाल जब उनकी नींद खुली तो उन्होंने अपनी आँखें दो-तीन बार मलकर बहुत पछताते हुए रजनी से कहा, "आज पहली ही बार पुष्टई की दवा तुमने दी थी। उसकी घुमेर सह न सका। आज फिर वही दवा पिलाना। मैं आज उसे पीकर अपने पलंग पर पैर नहीं रखूँगा, जिससे उसकी घुमेर मुझ पर हावी न हो पाए।"

रजनी ने अपने होंठों में बहुत मीठी मुस्कराहट भरकर अपने पति को उत्तर दिया, "आज नहीं, दो-चार दिन बाद फिर। जहरीली दवा है; रोज-रोज नहीं खाई जाती।" ●

# संसार का नियम

एक चक्की को गेहूँ-चना पीसते देखकर एक दर्शक ने उससे पूछा, “अरे, तू कैसी धूर्त है—दूसरों को पीसती है और अपने आप चीखती है?”

“बन्धु! तू नहीं जानता।” चक्की ने उत्तर दिया, “इस संसार में उसी की पूछ और सुनवाई होती है, जो दूसरों को पीसता भी रहे और अपने आप चीखता भी रहे!” ●

# आतिथ्य-लाभ

जनक चार दिन से प्रबोध का मेहमान था। पहले दो दिन में ही प्रबोध की सरलता का उसने पूरा लाभ उठाया। घर के लोगों की तरह ही प्रबोध के परिवार में घुल-मिल गया।

प्रबोध का अपना परिवार ही कुल तीन प्राणियों का था—वह, उसकी स्त्री और उसकी बहन सुधा। सुधा पूरे अठारह वर्ष की थी। बी.ए. फाइनल में पढ़ रही थी।

जनक चार दिन में ही उससे इस तरह बातें करने लगा, जैसे उसकी उससे बहुत पुरानी जान-पहचान हो और उसके भले-बुरे का उससे भी कोई वास्ता हो। सुधा पहले कुछ झिझकी, कुछ शर्माई, फिर वह भी उससे उसी तरह बातें करने लगी, जैसे उसकी सब बातें उसके लिए अपने भाई जैसी ही हों।

संयोग से पाँचवें दिन प्रबोध को एक जरूरी काम से एक दिन के लिए घर से बाहर चला जाना पड़ा। जाते समय वह सुमित्रा से कह गया, "जनक की खातिरदारी में मेरे पीछे कोई कमी न आए; वह मेरा मेहमान है।"

उस दिन सुमित्रा ने जनक के लिए सब दिन से अच्छा नाश्ता बनाया, अच्छे घी का मूँग की दाल का हलुआ बनाया और बेसन की गरम-गरम पकौड़ियाँ बनाईं।

सुधा दो प्लेटों में दोनों चीजें भरकर जनक की मेज पर रख आई। उसके बाद चाय की केतली लेकर जब वह जनक के प्याले में चाय उँडेलने लगी तो जनक ने कहा, "हम नहीं पीएँगे!"

"क्यों? क्या हुआ?"

"चाय कहीं अकेले पी जाती है?"

"लाचारी है", सुधा ने जमीन के फर्श की ओर देखते हुए उत्तर दिया, "भैया आज बाहर गए हुए हैं।"

जनक ने बिना किसी हिचकिचाहट के एकटक सुधा के मुँह की ओर देखते हुए कहा, "वे नहीं तो क्या, तुम तो हो!"

"मैं!" कुछ सहमती-सी आवाज में कहकर सुधा ने केतली की धार रोककर

चौंकते हुए एक बार जनक की ओर देखा; फिर न जाने लजाकर, न जाने जनक की किसी बात से डरकर, वह जनक के प्याले में चाय न उँडेलकर, तत्काल घर के भीतर भाग गई।

कुछ देर में सुमित्रा ने सुधा से कहा, "देखो, कोई प्लेट खाली हो गई हो तो उसमें हलुआ और पकौड़ी कुछ और दे आओ!"

सुधा को फिर जनक के पास जाना ही पड़ा। दोनों प्लेट ज्यों-की-त्यों रखी हुई थीं। चाय भी उसके प्याले में वैसी ही पड़ी थी। सुधा ने देखकर आश्चर्य से कहा, "अरे, आपने तो अभी तक किसी चीज को हाथ से छुआ तक नहीं?"

जनक ने अपनी पूरी ललचाई नजर सुधा के चेहरे पर टिका दी और उत्तर दिया, "कैसे खाता?"

"क्यों?"

"तुम जो चली गई थीं!"

"लो, मैं आ गई हूँ", सुधा के मुँह से अनायास निकल गया, "अब खा लो।" और उसने जनक का मन रखने के लिए एक पकौड़ी उठाकर अपने मुँह में डाल ली।

"ऐसे नहीं", जनक ने कहा, "मेरे पास बैठकर खाओ।"

सुधा उसकी इस इच्छा का पालन न कर सकी। दो मिनट वह वहीं खड़ी-खड़ी न जाने किस भाव से उसका मुँह ताकती रही।

जनक उन दो मिनट में पूरी तरह बौखला गया। उसने निःसंकोच उठकर, सुधा को निर्निमेष देखते हुए, कसकर उसका हाथ पकड़ लिया और निर्लज्ज होकर कहा, "न जाने कैसे तो इन चार दिनों में आज यह मौका हाथ लगा है...तुम उसे भी टाले दे रही हो!"

सुधा उस अनचाही पकड़ से एक बार चीखने को हुई, पर न जाने किस डर से चीख न सकी। ●

# भाई-भाई

एक चोर ने एक दिन अर्द्धरात्रि में एक गृहस्थ के घर में चोरी करने के लिए सेंध लगाई और उसके घर में घुस गया।

संयोग की बात उस रात्रि, उस घर का स्वामी विदेश गया हुआ था और उस अर्द्धरात्रि में उसकी तरुणी भार्या के पास उसका एक प्रेमी जार आया हुआ था।

चोर जैसे ही उस घर के आँगन में घुसा वैसे ही उसकी मन्द पदचाप उस शंकित हृदय जार के कानों में पड़ी। उसने भयविह्वल स्वर से उस गृहस्थ की तरुणी भार्या से कहा, "प्रिये! आँगन में कोई है! कहीं तुम्हारे पति तो इस असमय में विदेश से नहीं लौट आए?"

तरुणी भार्या ने उत्तर दिया, "नहीं, सखे! मेरे पति इस समय में विदेश से लौट आते तो भी बिना पुकार लगाए घर में कैसे घुस आते? घर के द्वार के कपाट तो मैंने अपने हाथ से बन्द किए थे।"

धीरे-धीरे चोर की पदचाप निकट से निकटतर होती गई। 'कोई आँगन में है।' अब इस बात में दोनों को कोई सन्देह नहीं रहा। तत्काल दोनों भयभीत हृदय से अन्धकार में उसे देखने के लिए एक बड़े गवाक्ष से आ लगे। बहुत देर तक देखने पर दोनों ने जाना—वैसी भय की कोई बात नहीं; आँगन में पदचाप करनेवाला घर का स्वामी नहीं, कोई चोर है।

चोर देखने में बहुत हृष्ट-पुष्ट, बलवान दिखाई देता था। जार और उसकी प्रेमिका का साहस न हुआ—बाहर निकलकर उससे भिड़ पड़ें और मारपीटकर तुरन्त उसे घर से बाहर निकाल दें। यह देखकर भी दोनों 'चोर-चोर' कहकर बार-बार चिल्ला भी न सके।

घर थोड़ा-थोड़ा लुटता रहा। दोनों बेबसी से उसे बहुत देर तक देखते रहे। पर चोर अल्पसन्तोषी नहीं था। उसने अपने यत्न से उस आलमारी को ढूँढ निकाला, जिसमें उस घर की स्वामिनी के सोने के आभूषण रखे हुए थे। जब वह बहुत चाव से एक-एक कर उस घर की स्वामिनी के प्रिय आभूषण निकालने लगा—तो उस समय वह अपनी वर्तमान स्थिति को सर्वथा भूल गई और जिस

जगह खड़ी थी, वहीं खड़ी-खड़ी जोर-जोर से चिल्लाने लगी, "हाय, रे! मैं तो आज बुरी तरह लुट गई!"

उसका प्रेमी जार, उसका चिल्लाना सुन, तत्काल घर का द्वार खोल अपने भय से बाहर भागा। चोर ने भी जब उसकी चिल्लाहट सुनी तो वह भी, जो उठ सका, उसे उठाकर तुरन्त घर से बाहर निकल उसके पीछे-पीछे भागा।

जार बिना अपना आगा-पीछा देखे भागा जा रहा था। चोर फिर भी चारों ओर दृष्टि डालता हुआ अपना आगा-पीछा सावधानी से देखता हुआ भाग रहा था। कुछ दूर चलकर चोर को कुछ समझ आई। उसने जोर से चिल्लाकर कहा, "मित्र! मुझसे भी क्यों डर रहे हो? हम-तुम तो भाई-भाई हैं! यह बात दूसरी है—तुम्हारी चोरी और तरह की है, मेरी चोरी और तरह की!"

फिर भी जार के पैर रुकते न थे। ●

# मिट्टी के आदमी

एक राजा एक दिन घूमता हुआ नदी के किनारे जा निकला। वहाँ आकर उसने देखा—एक पागल-सा आदमी नदी के किनारे पक्की ईंटों के छोटे-छोटे मकान, छोटी-छोटी सड़कें, छोटी-छोटी नदियाँ और उनके ऊपर छोटे-छोटे पुल बना रहा है।

राजा ने उसके निकट जाकर पूछा, "तुम यह क्या कर रहे हो?"

"अपनी प्रजा के लिए एक सुन्दर नगर बना रहा हूँ।" उसने उत्तर दिया।

"तेरे प्रजाजन कहाँ हैं?" राजा ने फिर पूछा।

वह आदमी राजा का हाथ पकड़कर कुछ दूर एक छोटे-से टीले पर ले गया और कहा, "यह देखो, टीले के ऊपर एक कतार में ये सब मेरे प्रजाजन खड़े हैं।"

राजा ने देखा—टीले के ऊपर एक कतार में बहुत-से मिट्टी के बने निर्जीव आदमी खड़े हैं। राजा ने किन्चित् मुस्कराते हुए पूछा, "ये तेरे मिट्टी के आदमी इन सड़कों और इन नदी-पुलों को कैसे पार करेंगे?"

राजा की यह बात सुनकर वह आदमी राजा का हाथ पकड़कर उसे टीले के दूसरे पार ले गया। राजा ने उस जगह जाकर देखा—वहाँ लोहे की एक बड़ी मशीन रखी हुई है। उसे दिखाकर उस आदमी ने कहा, "यह विज्ञान का युग है। जो काम आदमी अपने आप नहीं कर सकता, वह आज विज्ञान के द्वारा सरलता से हो जाता है। मेरे प्रजाजन भी इस लोहे की मशीन पर बैठकर सरलता से इस नगर की सड़कें और नदी-पुल पार करेंगे।"

राजा ने उसे धिक्कारते हुए कहा, "ये तेरे आदमी वैसे जीवित कहाँ हैं, जैसे नगरों में रहनेवाले मनुष्य होते हैं?"

राजा की बात सुनकर वह आदमी दो क्षण को अप्रतिभ और चिन्तित-सा हुआ। उसके बाद उसने राजा से पूछा, "तेरे नगर में राजा! वैसे जीवित मनुष्य हैं?"

"हाँ!" राजा ने उत्तर दिया।

"चल, मुझे दिखा?" उस आदमी ने कहा।

राजा उसे लेकर अपने नगर में आया और उसने उस नगर में रहनेवाले चलते-फिरते आदमियों को उसे दिखाया।

वह आदमी उन्हें देखकर कुछ देर सोचता रहा। उसके बाद वह तेजी से उछला और दौड़-दौड़कर उसने किसी के मुँह पर चपत मारा, किसी के मुँह पर घूँसा और किसी के कमर पर दो लात।

अकस्मात् इस प्रकार निर्भीकता से उसे मार-पीट करते देख उस नगर के लोग भय से भाग-भागकर अपने-अपने घरों में घुस गए, पर किसी ने उसे कुछ कहा नहीं।

राजा उसकी इस अनुचित बात पर अपना रोष प्रकट करना चाहता था, परन्तु उससे पहले ही उसने राजा से कहा, "ये तेरे इस नगर के चलते-फिरते आदमी जीवित कहाँ हैं, राजा? इस संसार में जीवित तो वही कहलाते हैं, जो किसी दूसरे से अपना अपमान नहीं सहते। ये तो सब मरे हुए हैं। जिन्दा आदमियों की लाशें हैं, जो तुम्हें चलती-फिरती दिखाई दे रही हैं। चल, लौटकर देख—तेरे इन जीवित आदमियों से तो मेरे मिट्टी के आदमी कितने अच्छे हैं, जो मिट्टी के बने होने पर भी किसी का किया अपमान नहीं सह सकते।"

राजा को उसकी बात पर आश्चर्य हुआ। वह उसके साथ लौटकर फिर नदी के किनारे आया।

नदी के किनारे पहुँचते ही उसने राजा को टीले के सामने ले जाकर कहा, "अरे, मार तो तू मेरे इन मिट्टी के आदमियों के शरीर पर मेरी तरह चपत, लात, घूँसे!"

राजा ने उसके कहते ही उछलकर उन मिट्टी के आदमियों के ऊपर चपत, घूँसे और लातें मारनी आरम्भ कर दीं।

राजा के घूँसे और लात जिस पर लगते गए, वही मिट्टी का आदमी चूर-चूर होकर पृथ्वी पर गिरता गया।

उनके गिरते ही उस आदमी ने चिल्लाकर कहा, "देखा, तेरे आदमी जीवित होते तो अपने अपमान का प्रतिकार करते—बदला लेते या मर जाते। उन्होंने अपना अपमान सहा; पर इन आदमियों ने नहीं सहा। मिट्टी के थे, इसलिए तुमसे अपने अपमान का बदला तो नहीं ले सके, किन्तु उन्होंने अपमान सहकर जीवित रहने की अपेक्षा, अपने शरीर नष्ट कर दिए।" ●

(सभी लघुकथाएँ 'मिट्टी के आदमी' से, 1966)

## प्रेमचन्द

जन्मतिथि : 31 जुलाई, 1880
जन्मस्थान : गाँव लमही, जिला बनारस (उ.प्र.)
शिक्षा : बी.ए.
प्रकाशित कृतियाँ : हिन्दी के शीर्षस्थ कथाकार। वरदान, प्रतिज्ञा, सेवासदन, प्रेमाश्रम, निर्मला, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि, गोदान, मंगलसूत्र (अपूर्ण) आदि उपन्यास तथा पंच परमेश्वर, नमक का दारोगा, पूस की रात, सद्गति, सवा सेर गेहूँ, कफन, नशा आदि लगभग तीन सौ कहानियाँ। इनके अतिरिक्त नाटककार, निबन्धकार, सम्पादक, जीवनी-लेखक और अनुवादक भी थे। 'जागरण' और 'हंस' का सम्पादन। गॉल्सवर्दी, जॉर्ज इलियट, टॉलस्टाय, अनातोले फ्रांस, रतननाथ सरशार आदि लेखकों की रचनाओं का हिन्दी अनुवाद
भारत-भर के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में प्रेमचन्द के अनेक उपन्यास व कहानियाँ शामिल तथा अनेक पर फीचर फिल्में व टेली फिल्में
निधन : 31 अक्तूबर, 1936

### संकलित लघुकथाएँ

दरवाजा, बाबाजी का भोग, गुरु-मन्त्र, गमी, राष्ट्र का सेवक, देवी, बन्द दरवाजा, दूसरी शादी, कश्मीरी सेब, यह भी नशा, वह भी नशा, जादू

# दरवाजा

मेरी जान हमेशा आफत में रहती है। अव्वल तो घर के लड़के दम नहीं लेने देते। मेरे दोनों पट्टों को जोर से टकराना उनका खेल है। मेरी पसलियाँ चूर हो जाती हैं। दूसरे हवा के तेज झोंके और भी बला-ए-जाँ (जान के दुश्मन), इस बेरहमी से मुझे जेरोजबर (अस्त-व्यस्त, उथल-पुथल) करते हैं कि अलामान (परमात्मा खैर करे), इस पर तुर्रा ये कि मेरी फुगाने-दर्द (दुःखभरी चीख) पर साहबेखाना (गृहस्वामी) को भी तरस नहीं आता। वह उल्टे मुझी पर नाराज होते हैं। मैं घर का राजदार हूँ और जाहिरदारी (दिखावा, बनावट) को निभाना मेरा काम है। अक्सर घर में साहबेखाना के मौजूद होने पर भी मुझे बन्द कर दिया जाता है। खासकर किसी चन्दे की वसूलियाँ, बजाज के तकाजे के दिन मुझे बन्द कर दिया जाता है और वे अपना-सा मुँह लेकर लौट जाते हैं। मैं सीनासिपर (छाती तानकर) अपने आका को नदामत (लज्जा) और हीलासाजी (बहानेबाजी, चालबाजी) से बचा लेता हूँ। मगर पिछले दिनों जब मुझे बन्द देखकर डाकिया मनीऑर्डर वापिस ले गया तो साहबेखाना मुझी को कोसने लगे। मेरी नेकियों का कोई भी नाम नहीं लेता, मगर बुराइयों पर सब-के-सब बरहम (क्रोधित) हो जाते हैं।

जमाने का अजब ढंग है। मुझे अपने फराहिजे मंसबी (कर्तव्यों का पालन) देने में कितनी गालियाँ खानी पड़ती हैं। मुझे बन्द पाकर लुक्मा-ए-लजीज (स्वादिष्ट भोजन) की खवाहिश से बेताब कुत्ते कितने बरहम हो जाते हैं और कितने मायूस, और चोर तो मेरी जान के गाहक हैं। कभी बगली घूँसे मारते हैं, कभी चूल खिसका देते हैं, कभी कुछ, हत्ता के (यहाँ तक कि) गदागरों (भिखारियों) को भी मुझसे बुग्ज (अप्रकट द्वेष) है। मुझे बन्द पाकर कोसते हैं और नाकाम वापिस लौट जाते हैं।

आह! उम्रे-रफ्ता (व्यतीत आयु) की याद कितनी हस्रतनाक (दुःखपूर्ण) है! मैंने कभी अच्छे दिन देखे हैं। वह दिन नहीं भूलता, जब मलिका (स्वामिनी) नई-नवेली दुल्हन बनी गहनों से लदी, शर्म से सिर झुकाए पालकी से उतरी थीं। उस वक्त पहले मैंने ही उनकी रुखरोशन (मुख-दीप्ति) का नजारा किया था और उनके कमल-से नाजुक पैरों का बोसा (चुम्बन) लिया था। एक रोज जब बाबूजी

शाम को किसी वजह से घर नहीं आए, तो इन्तजार में बैठे-बैठे उकताकर वह नवेली दुल्हन हया से गरदन झुकाए, दीवारों से लजाती मेरी गोद में आकर खड़ी हो गई और कितनी देर तक मेरे पहलुओं में लिपटी हुई सामने के वसीह मैदान की तरफ ताकती रही। उसके दिल में उस वक्त कैसी धड़क थी और आँखों में कितना फिकर आमेज इश्तियाक (चिन्तापूर्ण उत्कण्ठा)। बाबू साहब को आड़े से आते देखकर वह किस तरह खुशी से उमड़ी हुई जल्दी से घर में चली गई, यह पुरमजा (आनन्दपूर्ण) बातें कभी भूल सकती हैं? बाबूजी ज्यूँ-ज्यूँ बूढ़े होते जाते हैं, उन्हें मुझसे उन्स (मुहब्बत) होता जाता है। अब वह अक्सर मेरे पहलुओं में बैठे रहते हैं, शायद उन्हें मेरी जुदाई का गम सताया करता है। अभी जब वह बीमार थे तो मालकिन कितनी बार मुझसे लिपट-लिपटकर रोई थीं, मालूम नहीं क्या!

इस घर में कौन कदम रखेगा, अगर उसे मालूम हो जाए कि उसे कभी यहाँ से जाने का अख्तियार नहीं है? मैं घर और बाहर के बीच की कड़ी हूँ। बाहर कितना वसीह (विस्तृत) मैदान है। कैसे सुहावने, सब्जाजार (घास का मैदान, हरियाली-ही-हरियाली), कैसी मुस्कराती हुई आबादियाँ, कितनी वसीह दुनिया। घर महदूद है, बाहर की कोई इन्तहा नहीं। महदूद (सीमित) और गैरमहदूद (असीमित) के दरमियान रिश्ता-ए-इत्तिसाल (मिलन का सम्बन्ध) हूँ। कतरे को बहर से मिलाना मेरा काम है। मैं एक किश्ती हूँ, फना (मृत्यु) से बका (जीवन) को ले जाने के लिए। ●

(1917)

# बाबाजी का भोग

रामधन अहीर के द्वार पर एक साधु आकर बोला, "बच्चा तेरा कल्याण हो, कुछ साधु पर श्रद्धा कर।"

रामधन ने जाकर स्त्री से कहा, "साधु द्वार पर आए हैं, उन्हें कुछ दे दे।"

स्त्री बर्तन माँज रही थी, और इस घोर चिन्ता में मग्न थी कि आज भोजन क्या बनेगा, घर में अनाज का एक दाना भी न था। चैत का महीना था। किन्तु यहाँ दोपहर ही को अन्धकार छा गया था। उपज सारी-की-सारी खलिहान से उठ गई। आधी महाजन ने ले ली, आधी जमींदार के प्यादों ने वसूल की। भूसा बेचा तो बैल के व्यापारी से गला छूटा, बस थोड़ी-सी गाँठ अपने हिस्से में आई। उसी को पीट-पीटकर एक मनभर दाना निकाला था। किसी तरह चैत का महीना पार हुआ। अब आगे क्या होगा? क्या बैल खाएँगे, क्या घर के प्राणी खाएँगे, यह ईश्वर ही जाने! पर द्वार पर साधु आ गया है, उसे निराश कैसे लौटाए, अपने दिल में क्या कहेगा!

स्त्री ने कहा, "क्या दे दूँ, कुछ तो रहा नहीं?"

रामधन—"जा, देख तो मटके में कुछ आटा-वाटा मिल जाए तो ले आ।"

स्त्री ने कहा, "मटके झाड़-पोंछकर तो कल ही चूल्हा जला था। क्या उसमें बरक्कत होगी?"

रामधन—"तो मुझसे तो यह न कहा जाएगा कि बाबा घर में कुछ नहीं है। किसी के घर से माँग ला।"

स्त्री—"जिससे लिया उसे देने की नौबत नहीं आई, अब और किस मुँह से माँगूँ?"

रामधन—"देवताओं के लिए कुछ अँगोवा निकाला है न, वही ला, दे आऊँ!"

स्त्री—"देवताओं की पूजा कहाँ से होगी?"

रामधन—"देवता माँगने तो नहीं आते? समाई होगी करना, न समाई हो न करना।"

स्त्री—"अरे तो कुछ अँगोवा भी पंसेरी-दो पंसेरी है? बहुत होगा तो आधा

सेर। इसके बाद क्या फिर कोई साधु न आएगा। उसे तो जवाब देना ही पड़ेगा।"

रामधन—"यह बला तो टलेगी, फिर देखी जाएगी।"

स्त्री झुँझलाकर उठी और एक छोटी-सी हाँडी उठा लाई, जिसमें मुश्किल से आधा सेर आटा था। वह गेहूँ का आटा बड़े यत्न से देवताओं के लिए रखा हुआ था। रामधन कुछ देर खड़ा सोचता रहा, तब आटा एक कटोरे में रखकर बाहर आया और साधु की झोली में डाल दिया।

महात्मा ने आटा लेकर कहा, "बच्चा, अब तो साधु आज यहीं रमेंगे। कुछ थोड़ी-सी दाल दे, तो साधु का भोग लग जाय।"

रामधन ने फिर आकर स्त्री से कहा। संयोग से दाल घर में थी। रामधन ने दाल, नमक, उपले जुटा दिए। फिर कुएँ से पानी खींच लाया। साधु ने बड़ी विधि से बाटियाँ बनाईं, दाल पकाई और आलू झोली में से निकालकर भुरता बनाया। जब सब सामग्री तैयार हो गई, तो रामधन से बोले, "बच्चा, भगवान् के भोग के लिए कौड़ी-भर घी चाहिए। रसोई पवित्र न होगी, तो भोग कैसे लगेगा?"

रामधन—"बाबाजी, घी तो घर में न होगा।"

साधु—"बच्चा, भगवान् का दिया तेरे पास बहुत है। ऐसी बातें न कह।"

रामधन—"महाराज, मेरे गाय-भैंस कुछ नहीं है, घी कहाँ से होगा?"

साधु—"बच्चा, भगवान् के भण्डार में सब-कुछ है, जाकर मालकिन से कहो तो?"

रामधन ने जाकर स्त्री से कहा, "घी माँगते हैं, माँगने को भीख, पर घी बिना कौर नहीं धँसता!"

स्त्री—"तो इसी दाल में से थोड़ी लेकर बनिए के यहाँ से ला दो। जब सब किया है तो इतने के लिए उन्हें नाराज करते हो?"

घी आ गया। साधुजी ने ठाकुरजी की पिण्डी निकाली, घण्टी बजाई और भोग लगाने बैठे। खूब तनकर खाया, फिर पेट पर हाथ फेरते हुए द्वार पर लेट गए। थाली, बटली और कलछुली रामधन घर में माँजने के लिए उठा ले गया।

उस रात रामधन के घर चूल्हा नहीं जला। खाली दाल पकाकर ही पी ली।

रामधन लेटा, तो सोच रहा था—मुझसे तो यही अच्छे! ●

('प्रेम-प्रतिमा' से, 1926)

# गुरु-मन्त्र

घर के कलह और निमन्त्रणों के अभाव से पण्डित चिन्तामणिजी के चित्त में वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने संन्यास ले लिया तो उनके परम मित्र पण्डित मोटेराम शास्त्रीजी ने उपदेश दिया—"मित्र, हमारा अच्छे-अच्छे साधु-महात्माओं से सत्संग रहा है। यह जब किसी भलेमानस के द्वार पर जाते हैं, तो गिड़गिड़ाकर हाथ नहीं फैलाते और झूठ-मूठ आशीर्वाद नहीं देने लगते कि 'नारायण तुम्हारा चोला मस्त रखे, तुम सदा सुखी रहो।' यह तो भिखारियों का दस्तूर है। सन्त लोग द्वार पर जाते ही कड़ककर हाँक लगाते हैं, जिससे घर के लोग चौंक पड़ें और उत्सुक होकर द्वार की ओर दौड़ें। मुझे दो-चार वाणियाँ मालूम हैं, जो चाहे ग्रहण कर लो। गुदड़ी बाबा कहा करते थे—'मरें तो पाँचों मरें।' यह ललकार सुनते ही लोग उनके पैरों पर गिर पड़ते थे। सिद्ध बाबा की हाँक बहुत उत्तम थी—'खाओ, पीओ, चैन करो, पहनो गहना, पर बाबाजी के सोटे से डरते रहना।' नंगा बाबा कहा करते थे—'दे तो दे, नहीं दिला दे, खिला दे, पिला दे, सुला दे।' यह समझ लो कि तुम्हारा आदर-सत्कार बहुत-कुछ तुम्हारी हाँक के ऊपर है। और क्या कहूँ! भूलना मत। हम और तुम बहुत दिनों साथ रहे, सैकड़ों भोज साथ खाए। जिस नेवते में हम और तुम दोनों पहुँचते थे, तो लाग-डाँट से एक-दो पत्तल और उड़ा ले जाते थे। तुम्हारे बिना अब मेरा रंग न जमेगा, ईश्वर तुम्हें सदा सुगन्धित वस्तु दिखाए।"

चिन्तामणि को इन वाणियों में एक भी पसन्द न आई। बोले, "मेरे लिए कोई वाणी सोचो।"

मोटेराम—"अच्छा यह वाणी कैसी है कि 'न दोगे तो हम चढ़ बैठेंगे'?"

चिन्तामणि—"हाँ, यह मुझे पसन्द है। तुम्हारी आज्ञा हो तो इसमें काट-छाँट करूँ।"

मोटेराम—"हाँ, हाँ, करो।"

चिन्तामणि—"अच्छा, तो इसे इस भाँति रखो—न देगा तो हम चढ़ बैठेंगे।"

मोटेराम—"(उछलकर) नारायण जानता है, यह वाणी अपने रंग में निराली है। भक्ति ने तुम्हारी बुद्धि को चमका दिया है। भला एक बार ललकारकर कहो

तो, देखें, कैसे कहते हो।"

चिन्तामणि ने दोनों कान उँगलियों से बन्द कर लिए और अपनी पूरी शक्ति से चिल्लाकर बोले, "न देगा तो चढ़ बैठूँगा।"

यह नाद ऐसा आकाशभेदी था कि मोटेराम भी सहसा चौंक पड़े। चमगादड़ घबराकर वृक्षों से उड़ गए। कुत्ते भौंकने लगे।

मोटेराम—"मित्र, तुम्हारी वाणी सुनकर मेरा तो कलेजा काँप उठा। ऐसी ललकार कहीं सुनने में न आई, तुम सिंह की भाँति गरजते हो। वाणी तो निश्चित हो गई, अब कुछ दूसरी बातें बताता हूँ, कान देकर सुनो। साधुओं की भाषा हमारी बोलचाल से अलग होती है। हम किसी को आप कहते हैं, किसी को तुम। साधु लोग छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, बूढ़े-जवान, सबको 'तू' कहकर पुकारते हैं। माई और बाबा का सदैव उचित व्यवहार करते रहना। यह भी याद रखो कि सादी हिन्दी कभी मत बोलना, नहीं तो मरम खुल जाएगा। टेढ़ी हिन्दी बोलना। यह कहना कि, 'माई, मुझको कुछ खिला दे' साधुजनों की भाषा में ठीक नहीं है। पक्का साधु इसी बात को यों कहेगा—माई मेरे को भोजन करा दे, तेरे को बड़ा धर्म होगा।"

चिन्तामणि—"मित्र, हम तेरे को कहाँ तक जस गाएँ। तेरे ने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है।"

यों उपदेश देकर मोटेराम विदा हुए। चिन्तामणिजी आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि एक गाँजे-भाँग की दुकान के सामने कई जटाधारी महात्मा बैठे हुए गाँजे के दम लगा रहे हैं। चिन्तामणि को देखकर एक महात्मा ने अपनी जयकार सुनाई—"चल-चल, जल्दी लेके चल, नहीं तो अभी करता हूँ बेकल।"

एक दूसरे साधु ने कड़ककर कहा, "अ-रा-रा-रा-धम, आय पहुँचे हम, अब क्या है गम।"

अभी यह कड़ाका आकाश में गूँज ही रहा था कि तीसरे महात्मा ने गरजकर अपनी वाणी सुनाई, "देस बंगाला, जिसको देखा न भाला, चटपट भर दे प्याला।"

चिन्तामणि से अब न रहा गया। उन्होंने भी कड़ककर कहा, "न देगा तो चढ़ बैठूँगा।"

यह सुनते ही साधुजन ने चिन्तामणि का सादर अभिवादन किया। तत्क्षण गाँजे की चिलम भरी गई और उसे सुलगाने का भार पण्डितजी पर पड़ा। बेचारे बड़े असमंजस में पड़े। सोचा, अगर चिलम नहीं लेता तो अभी सारी कलई खुल जाएगी। विवश होकर चिलम ले ली; किन्तु जिसने कभी गाँजा न पिया हो, वह बहुत चेष्टा करने पर भी दम नहीं लगा सकता। उन्होंने आँखें बन्द करके अपनी समझ में तो बड़े जोरों से दम लगाया। चिलम हाथ से छूटकर गिर पड़ी, आँखें

निकल आईं, मुँह से फिचकुर निकल आया। मगर न तो मुँह से धुएँ के बादल निकले, न चिलम ही सुलगी। उनका यह कच्चापन उन्हें साधु-समाज से च्युत करने के लिए काफी था। दो-तीन साधु झल्लाकर आगे बढ़े और बड़ी निर्दयता से उनका हाथ पकड़कर उठा दिया।

एक महात्मा—"तेरे को धिक्कार है!"

दूसरे महात्मा—"तेरे को लाज नहीं आती? साधु बना है, मूर्ख!"

पण्डितजी लज्जित होकर समीप के एक हलवाई की दुकान के सामने जाकर बैठे। और साधु-समाज ने खंजड़ी बजा-बजाकर यह भजन गाना शुरू किया—

*माया है संसार सँवलिया, माया है संसार।*
*धर्माधर्म सभी कुछ मिथ्या, यही ज्ञान व्यवहार॥*
*सँवलिया, माया है संसार।*
*गाँजे, भंग को वर्जित करते, है उन पर धिक्कार॥*
*सँवलिया, माया है संसार।* ●

('प्रेम-प्रतिमा' से, 1926)

# गमी

मुझे जब कोई काम—जैसे बच्चों का खेलना, ताश खेलना, हारमोनियम बजाना, सड़क पर आने-जानेवालों को देखना—नहीं होता तो अखबार उलट लिया करता हूँ। अखबार में पहले उन मुकदमों की रिपोर्ट पढ़ता हूँ, जिसमें किसी स्त्री की चर्चा होती है—जैसे आशनाई के, या भगा ले जाने के, या तलाक के, या बलात्कार के। विशेषकर बलात्कार के मुकदमे मैं बड़े शौक से पढ़ता हूँ, तन्मय हो जाता हूँ।

कल संयोग से अखबार में ऐसा ही मुकदमा मिल गया। मैं सँभल गया। ताबेदार से चिलम भरवाई और घड़ी-दो घड़ी असीम आनन्द की कल्पना करके अखबार पढ़ने लगा।

यकायक किसी ने पुकारा, "बाबूजी...!"

मुझे यह मुदाखलत बेजा (व्यर्थ की बाधा) बुरी तो लगी, लेकिन कभी-कभी इसी तरह निमन्त्रण भी आ जाया करते हैं, इसलिए मैंने कमरे से बाहर आकर आदमी से पूछा, "क्या काम है मुझसे? कहाँ से आया है?"

उस आदमी के हाथ में न कोई निमन्त्रण-पत्र था, न निमन्त्रित सज्जनों की नामावली। इससे मेरा क्रोध और दहक उठा। मैंने अंग्रेजी में दो-चार गालियाँ दीं और उसके जवाब की अपेक्षा करने लगा।

आदमी ने कहा, "बाबू भागीरथ प्रसाद के घर से आया हूँ। उनके घर में गमी हो गई है।"

मैंने चिन्तित होकर पूछा, "कौन मर गया है?"

आदमी—"हुजूर, यह तो मुझे नहीं मालूम। बस इतना ही कहा है कि गमी की सूचना दे आ।"

यह कहकर वह चलता बना और मेरे मन में भ्रान्ति का एक तूफान छोड़ गया—कौन मर गया? स्त्री तो बीमार न थी, न कोई बच्चा ही बीमार था। फिर मर कौन गया? अच्छा, समझ गया। स्त्री के बाल-बच्चा होनेवाला था। उसी में कुछ गोलमाल हो गया होगा। बेचारी मर गई होगी। घर उजड़ गया। कई छोटे-छोटे बच्चे हैं। कौन उन्हें पालेगा? और तो और, इस जाड़े-पाले में नदी जाना और वह

भी नंगे पैर और रात को नदी में स्नान। उसकी मृत्यु क्या हुई, हमारी मृत्यु हुई। यहाँ तो हवा से जुकाम हुआ करता है, रात को नहाना तो मौत के मुँह में जाना है।

इस सोच में मैं कई मिनट मूढ़ बना खड़ा रहा। फिर घर में जाकर कपड़े उतारे, धोती ली और नंगे पाँव चला। भागीरथ प्रसाद के घर पहुँचा तो चिराग जल गए थे। द्वार पर कई आदमी मेरी तरह धोतियाँ लिए एक तख्त पर बैठे हुए थे।

मैंने पूछा, "आप लोगों को तो मालूम होगा कौन मर गया है?"

एक महाशय बोले, "जी नहीं! नाई ने तो इतना ही कहा था, गमी हो गई है। शायद स्त्री का देहान्त हो गया है। भागीरथ प्रसाद को बुलाना चाहिए। देर क्यों कर रहे हैं? मालूम नहीं कफन मँगवा लिया है या नहीं। अभी तो कहीं बाँस-फाँस का भी पता नहीं। सारी रात मरन है।"

मैंने द्वार पर जाकर पुकारा, "कहाँ हो भाई, क्या हम लोग अन्दर आ जाएँ? चारपाई से तो उतार लिया है न?"

भागीरथ प्रसाद एक मिनट में पान और इलायची की तश्तरी लिए, फलालेन का कुरता पहने, पान खाते हुए बाहर निकले। बाहर बैठी हुई शोक-मण्डली उन्हें देखकर चकित हो गई। यह बात क्या है? न लाश, न कफन, न रोना, न पीटना...यह कैसी गमी है? आखिर मैंने डरते-डरते कहा—"कौन यानी किसके विषय में यह आदमी जो आपने भेजा था?...तो क्या देर है?"

भागीरथ ने कुर्सी पर बैठकर कहा, "पहले आराम से बैठिए, पान खाइए, तब वह बात भी होगी। मैं आपका मतलब समझ गया। बात सोलहों आने ठीक है।"

"तो फिर जल्दी कीजिए रात हो गई है। कौन है?"

भागीरथ ने अब भी गम्भीर होकर कहा, "वही जो सबसे प्यारा, मेरा मित्र, मेरे जीवन का आधार, मेरा सर्वस्व, बेटे से भी प्यारा, स्त्री से भी निकट, मेरे 'आनन्द' की मृत्यु हो गई है। एक बालक का जन्म हुआ, पर मैं उसे आनन्द का विषय नहीं, शोक की बात समझता हूँ। आप लोग जानते हैं, मेरे दो बालक मौजूद हैं। उन्हीं का पालन मैं अच्छी तरह नहीं कर सकता। दूध भी कभी नहीं पिला सकता, फिर इस तीसरे बालक के जन्म पर मैं आनन्द कैसे मनाऊँ! इसने मेरे सुख और शान्ति में बड़ी भारी बाधा डाल दी। मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि इसके लिए दाई रख सकूँ। माँ इसको खिलाए, उसका पालन करे या घर के दूसरे काम करे? फर्ज यह होगा कि मुझे सब काम छोड़कर इसकी शुश्रूषा करनी पड़ेगी। दस-पाँच मिनट जो मनोरंजन या सैर में जाते थे, अब इसके सत्कार की भेंट होंगे। मैं इसे विपत्ति समझता हूँ, और इसीलिए इस जन्म को गमी कहता हूँ। आप लोगों को

कष्ट हुआ, क्षमा कीजिए। आप लोग गंगा-स्नान के लिए तैयार होकर आए। चलिए, मैं भी चलता हूँ। अगर शव को कन्धे पर रखकर चलना ही अभीष्ट हो, तो मेरे ताश और चौसर को लेते चलिए। इन्हें चिता में जला देंगे। वहाँ मैं गंगाजल हाथ में लेकर प्रतिज्ञा करूँगा कि अब ऐसी महान् मूर्खता फिर न करूँगा।"

हम लोगों ने खूब कहकहे मारे, दावत खाई और घर चले आए, पर भागीरथ प्रसाद का कथन अभी तक मेरे कानों में गूँज रहा है। ●

('मतवाला' से, 1929)

# राष्ट्र का सेवक

राष्ट्र के सेवक ने कहा, "देश की मुक्ति का एक ही उपाय है और वह है नीचों के साथ भाईचारे का सलूक, पतितों के साथ बराबरी का बर्ताव। दुनिया में सभी भाई-भाई हैं, कोई नीचा नहीं, कोई ऊँचा नहीं।"

दुनिया ने जयजयकार की—कितनी विशाल दृष्टि है, कितना भावुक हृदय!

उसकी सुन्दर लड़की इन्दिरा ने सुना और चिन्ता के सागर में डूब गई।

राष्ट्र के सेवक ने नीची जात के नौजवानों को गले लगाया।

दुनिया ने कहा—यह फरिश्ता है, पैगम्बर है, राष्ट्र की नैया का खेवैया है।

इन्दिरा ने देखा और उसका चेहरा चमकने लगा।

राष्ट्र का सेवक नीची जात के नौजवान को मन्दिर में ले गया, देवता के दर्शन कराए और कहा, "हमारा देवता गरीबी में है, जिल्लत में है, पस्ती में है।"

दुनिया ने कहा—कैसे शुद्ध अन्तःकरण का आदमी है। कैसा ज्ञानी!

इन्दिरा ने देखा और मुस्कराई।

इन्दिरा राष्ट्र के सेवक के पास जाकर बोली, "श्रद्धेय पिताजी, मैं मोहन से ब्याह करना चाहती हूँ।"

राष्ट्र के सेवक ने प्यार की नजरों से देखकर पूछा, "मोहन कौन है?"

इन्दिरा ने उत्साह भरे स्वर में कहा, "मोहन वही नौजवान है, जिसे आपने गले लगाया, जिसे आप मन्दिर में ले गए, जो सच्चा, बहादुर और नेक है।"

राष्ट्र के सेवक ने प्रलय की आँखों से उसकी ओर देखा और मुँह फेर लिया। ●

('प्रेम चालीसी' से, 1930)

# देवी

रात भीग चुकी थी। मैं बरामदे में खड़ा था। सामने अमीनुद्दौला पार्क नींद में डूबा खड़ा था। सिर्फ एक औरत एक तकियादार बेंच पर बैठी हुई थी। पार्क के बाहर सड़क के किनारे एक फकीर खड़ा राहगीरों को दुआएँ दे रहा था, "खुदा और रसूल का वास्ता...राम और भगवान् का वास्ता...इस अन्धे पर रहम करो।"

सड़क पर मोटरों और सवारियों का ताँता बन्द हो चुका था। इक्के-दुक्के आदमी नअर आ जाते थे। फकीर की आवाज जो पहले नक्कारखाने में तूती की आवाज थी, अब खुले मैदानों की बुलन्द पुकार हो रही थी। एकाएक वह औरत उठी और इधर-उधर चौकन्नी आँखों से देखकर फकीर के हाथ में कुछ रख दिया और फिर बहुत धीमे-से कुछ कहकर एक तरफ चली गई। फकीर के हाथ में कागज का एक टुकड़ा नजर आया जिसे वह बार-बार मल रहा था। क्या उस औरत ने यह कागज दिया है?

यह क्या रहस्य है? उसको जानने के कुतूहल से अधीर होकर मैं नीचे आया और फकीर के पास खड़ा हो गया। मेरी आहट पाते ही फकीर ने उस कागज के पुर्जे को दो उँगलियों से दबाकर मुझे दिखाया और पूछा, "बाबा, देखो यह क्या चीज है?"

मैंने देखा, दस रुपए का नोट था। बोला, "दस रुपए का नोट है, कहाँ पाया?"

मैंने और कुछ न कहा। उस औरत की तरफ दौड़ा जो अब अँधेरे में बस एक सपना बनकर रह गई थी। वह कई गलियों में होती हुई एक टूटे-फूटे गिरे-पड़े मकान के दरवाजे पर रुकी, ताला खोला और अन्दर चली गई।

रात को कुछ पूछना ठीक न समझकर मैं लौट आया।

रातभर मेरा जी उसी तरफ लगा रहा। एकदम तड़के मैं फिर उस गली में जा पहुँचा। मालूम हुआ वह एक अनाथ विधवा है।

मैंने दरवाजे पर जाकर पुकारा, "देवी, मैं तुम्हारे दर्शन करने आया हूँ।"

औरत बाहर निकल आई—गरीबी और बेकसी की जिन्दा तस्वीर।

मैंने हिचकते हुए कहा, “रात आपने फकीर को...”

देवी ने बात काटते हुए कहा, “अजी वह क्या बात थी, मुझे वह नोट पड़ा मिल गया था, मेरे किस काम का था!”

मैंने उस देवी के कदमों पर सिर झुका दिया। ●

('प्रेम चालीसी' से, 1930)

# बन्द दरवाजा

सूरज क्षितिज की गोद में निकला, बच्चा पालने में—वही स्निग्धता, वही लाली, वही खुमार, वही रोशनी।

मैं बरामदे में बैठा था। बच्चे ने दरवाजे से झाँका। मैंने मुस्कराकर पुकारा। वह मेरी गोद में आकर बैठ गया।

उसकी शरारतें शुरू हो गईं। कभी कलम पर हाथ बढ़ाया, कभी कागज पर। मैंने गोद से उतार दिया। वह मेज का पाया पकड़े खड़ा रहा। घर में न गया। दरवाजा खुला हुआ था।

एक चिड़िया फुदकती हुई आई और सामने के सहन में बैठ गई। बच्चे के लिए मनोरंजन का यह नया सामान था। वह उसकी तरफ लपका। चिड़िया जरा भी न डरी। बच्चे ने समझा अब वह परदार खिलौना हाथ आ गया। बैठकर दोनों हाथों से चिड़िया को बुलाने लगा। चिड़िया उड़ गई। निराशा से बच्चा रोने लगा। मगर अन्दर के दरवाजे की तरफ ताका भी नहीं। दरवाजा खुला हुआ था।

गरम हलवे की मीठी पुकार आई। बच्चे का चेहरा चाव से खिल उठा। खोंमचेवाला सामने से गुजरा। बच्चे ने मेरी तरफ याचना की आँखों से देखा। ज्यों-ज्यों खोंमचेवाला दूर होता गया, याचना की आँखें रोष में परिवर्तित हो गईं। यहाँ तक कि जब मोड़ आ गया और खोंमचेवाला आँख से ओझल हो गया तो रोष ने पुरशोर फरियाद की सूरत अख्तियार की। मगर मैं बाजार की चीजें बच्चों को नहीं खाने देता।

बच्चे की फरियाद ने मुझ पर कोई असर न किया। मैं आगे की बात सोचकर और भी तन गया। कह नहीं सकता, बच्चे ने अपनी माँ की अदालत में अपील करने की जरूरत समझी या नहीं। आम तौर पर बच्चे ऐसी हालतों में माँ से अपील करते हैं। शायद उसने कुछ देर के लिए अपील मुल्तवी कर दी हो। उसने दरवाजे की तरफ रुख न किया। दरवाजा खुला हुआ था।

मैंने आँसू पोंछने के खयाल से अपना फाउण्टेन पैन उसके हाथ में रख दिया। बच्चे को जैसे सारे जमाने की दौलत मिल गई। उसकी सारी इन्द्रियाँ इस

नई समस्या को हल करने में लग गईं। एकाएक दरवाजा हवा से खुद-ब-खुद बन्द हो गया। पट की आवाज बच्चे के कानों में आई। उसने दरवाजे की तरफ देखा। उसकी यह व्यस्तता तत्क्षण लुप्त हो गई। उसने फाउण्टेन पैन को फेंक दिया और रोता हुआ दरवाजे की तरफ चला क्योंकि दरवाजा बन्द हो गया था। ●

('प्रेम चालीसी' से, 1930)

# दूसरी शादी

जब मैं अपने चार साल के लड़के रामसरूप को गौर से देखता हूँ तो ऐसा मालूम होता है कि इसमें वह भोलापन और आकर्षण नहीं रहा जो दो साल पहले था। वह मुझे अपनी सुर्ख और रंजीदा आँखों से घूरता हुआ नजर आता है। उसकी इस हालत को देखकर मेरा कलेजा काँप उठता है और मुझे वह वादा याद आ जाता है जो मैंने दो साल हुए उसकी माँ के साथ, जबकि वह मृत्यु-शय्या पर थी, किया था। आदमी इतना स्वार्थी और अपनी इन्द्रियों का इतना गुलाम है कि अपना फर्ज किसी-किसी वक्त ही महसूस करता है।

उस दिन जबकि डॉक्टर नाउम्मीद हो चुके थे, उसने रोते हुए मुझसे पूछा था, "क्या तुम दूसरी शादी कर लोगे? जरूर कर लेना।" फिर चौंककर कहा, "मेरे राम का क्या बनेगा? उसका खयाल रखना, अगर हो सके।"

मैंने कहा, "हाँ-हाँ, मैं वादा करता हूँ कि मैं कभी दूसरी शादी न करूँगा और रामसरूप, तुम इसकी फिक्र न करो, क्या तुम अच्छी न होगी?"

उसने मेरी तरफ हाथ फेंक दिया, जैसे कहा, लो अलविदा।

दो मिनट बाद दुनिया मेरी आँखों में अँधेरी हो गई। रामसरूप बे-माँ का हो गया। दो-तीन दिन उसको कलेजे से चिमटाए रखा।

आखिर छुट्टी पूरी होने पर उसको पिताजी के सुपुर्द करके मैं फिर अपनी ड्यूटी पर चला गया।

दो-तीन महीने दिल बहुत उदास रहा। नौकरी की, क्योंकि उसके सिवाय चारा न था। दिल में कई मन्सूबे बाँधता रहा। दो-तीन साल नौकरी करके रुपया लेकर दुनिया की सैर को निकल जाऊँगा, यह करूँगा, वह करूँगा, अब कहीं दिल नहीं लगता।

घर से खत बराबर आ रहे थे कि फलाँ-फलाँ जगह से नाते आ रहे हैं। आदमी बहुत अच्छे हैं, लड़की अक्ल की तेज और खूबसूरत है, फिर ऐसी जगह नहीं मिलेगी। आखिर करना है ही, कर लो। हर बात में मेरी राय पूछी जाती थी।

लेकिन मैं बराबर इन्कार किए जाता था। मैं हैरान था कि इन्सान किस तरह

दूसरी शादी पर आमादा हो सकता है! जबकि उसकी सुन्दर और पतिप्राणा स्त्री को, जो कि उसके लिए स्वर्ग की एक भेंट थी, भगवान् ने एक बार छीन लिया।

वक्त बीतता गया। फिर यार-दोस्तों के तकाजे शुरू हो गए। कहने लगे, जाने भी दो, औरत पैर की जूती है, जब एक फट गई, दूसरी बदल ली। स्त्री का कितना भयानक अपमान है, यह कहकर मैं उनका मुँह बन्द कर दिया करता था। जब हमारी सोसाइटी, जिसका इतना बड़ा नाम है, हिन्दू विधवा को दुबारा शादी कर लेने की इजाजत नहीं देती तो मुझको शोभा नहीं देता कि मैं दुबारा एक कुँआरी से शादी कर लूँ। जब तक यह कलंक हमारी कौम से दूर नहीं हो जाता मैं हरगिज, कुँआरी तो दूर की बात है, किसी विधवा से भी ब्याह नहीं करूँगा। खयाल आया, चलो नौकरी छोड़कर इसी बात का प्रचार करें। लेकिन मंच पर अपने दिल के खयालात ज़ुबान पर कैसे लाऊँगा? भावनाओं को व्यावहारिक रूप देने में, चरित्र मजबूत बनाने में, जो कहना उसे करके दिखाने में हममें कितनी कमी है, यह मुझे उस वक्त मालूम हुआ जबकि छह माह बाद मैंने एक कुँआरी लड़की से शादी कर ली।

घर के लोग खुश हो रहे थे कि चलो, किसी तरह माना। उधर उस दिन मेरी बिरादरी के दो-तीन पढ़े-लिखे रिश्तेदारों ने डाँट बताई, तुम तो कहा करते थे, मैं बेवा से ही शादी करूँगा, लम्बा-चौड़ा व्याख्यान दिया करते थे, अब वह तमाम बातें किधर गईं? तुमने तो एक उदाहरण भी न रखा, जिस पर हम चल सकते।

मुझ पर जैसे घड़ों पानी फिर गया। आँखें खुल गईं। जवानी के जोश में क्या कर गुजरा! पुरानी भावनाएँ फिर उभर आईं और आज मैं उन्हीं विचारों में डूबा हुआ हूँ।

सोचा था—नौकर लड़के को नहीं सँभाल सकता, औरतें ही इस काम के लिए ठीक हैं। ब्याह कर लेने पर, जब औरत घर में आएगी तो रामसरूप को अपने पास बाहर रख सकूँगा और उसका खास खयाल रखूँगा लेकिन वह सब-कुछ गलत अक्षर की तरह मिट गया। रामसरूप को आज फिर वापस गाँव पिता के पास भेजने पर मजबूर हूँ। क्यों, यह किसी से छिपा नहीं। औरत का अपने सौतेले बेटे से प्यार करना एक असम्भव बात है। ब्याह के मौके पर सुना था लड़की बड़ी नेक है, स्वजनों का खास खयाल रखेगी और उसे अपने बेटे की तरह समझेगी, लेकिन सब झूठ। औरत चाहे कितनी नेकदिल हो वह कभी अपने सौतेले बच्चे से प्यार नहीं कर सकती।

और यह हार्दिक दुःख वह वादा तोड़ने की सजा है जो कि मैंने एक नेक बीवी से उसके आखिरी वक्त में किया था। ●

('हंस', 1931)

# कश्मीरी सेब

कल शाम को चौक में दो-चार जरूरी चीजें खरीदने गया था। पंजाबी मेवाफरोशों की दुकानें रास्ते ही में पड़ती हैं। एक दुकान पर बहुत अच्छे रंगदार, गुलाबी सेब सजे हुए नजर आए। जी ललचा उठा। आजकल शिक्षित समाज में विटामिन और प्रोटीन के शब्दों में विचार करने की प्रवृत्ति हो गई है। टमाटो को पहले कोई सेंत में भी न पूछता था। अब टमाटो भोजन का आवश्यक अंग बन गया है। गाजर भी पहले गरीबों के पेट भरने की चीज थी। अमीर लोग तो हलवा ही खाते थे; मगर अब पता चला है कि गाजर में भी बहुत विटामिन हैं, इसलिए गाजर को भी मेजों पर स्थान मिलने लगा है। और सेब के विषय में तो यह कहा जाने लगा है कि एक सेब रोज खाइए तो आपको डॉक्टरों की जरूरत न रहेगी। डॉक्टर से बचने के लिए हम निमकौड़ी तक खाने को तैयार हो सकते हैं। सेब तो रस और स्वाद में अगर आम से बढ़कर नहीं है तो घटकर भी नहीं। हाँ, बनारस के लंगड़े और लखनऊ के दसहरी और बम्बई के अल्फाँसो की बात दूसरी है। उनके टक्कर का फल तो संसार में दूसरा नहीं है; मगर उनमें विटामिन और प्रोटीन है या नहीं, है तो काफी है या नहीं, इन विषयों पर अभी किसी पश्चिमी डॉक्टर की व्यवस्था देखने में नहीं आई। सेब को यह व्यवस्था मिल चुकी है। अब वह केवल स्वाद की चीज नहीं है, उसमें गुण भी हैं। हमने दुकानदार से मोल-भाव किया और आध सेर सेब माँगे।

दुकानदार ने कहा, "बाबूजी बड़े मजेदार सेब आए हैं, खास कश्मीर के। आप ले जाएँ, खाकर तबीयत खुश हो जाएगी।"

मैंने रूमाल निकालकर उसे देते हुए कहा, "चुन-चुनकर रखना।"

दुकानदार ने तराजू उठाई और अपने नौकर से बोला, "लौंडे, आधा सेर कश्मीरी सेब निकाल ला। चुनकर लाना।"

लौंडा चार सेब लाया। दुकानदार ने तौला, एक लिफाफे में उन्हें रखा और रूमाल में बाँधकर मुझे दे दिया। मैंने चार आने उसके हाथ में रखे।

घर आकर लिफाफा ज्यों-का-त्यों रख दिया। रात को सेब या कोई दूसरा फल खाने का कायदा नहीं है। फल खाने का समय तो प्रातःकाल है। आज सुबह

मुँह-हाथ धोकर जो नाश्ता करने के लिए सेब निकाला, तो सड़ा हुआ था। एक रुपए के आकार का छिलका गल गया था। समझा, रात को दुकानदार ने देखा न होगा। दूसरा निकाला। मगर यह आधा सड़ा हुआ था। अब सन्देह हुआ, दुकानदार ने मुझे धोखा तो नहीं दिया है? तीसरा सेब निकाला। यह सड़ा तो न था, मगर एक तरफ दबकर बिलकुल पिचक गया था। चौथा देखा। वह यों तो बेदाग था, मगर उसमें एक काला सूराख था जैसा अक्सर बेरों में होता है। काटा तो भीतर वैसे ही धब्बे, जैसे किड़हे बेर में होते हैं। एक सेब भी खाने लायक नहीं। चार आने पैसों का इतना गम न हुआ जितना समाज के इस चारित्रिक पतन का। दुकानदार ने जान-बूझकर मेरे साथ धोखेबाजी का व्यवहार किया। एक सेब सड़ा हुआ होता, तो मैं उसको क्षमा के योग्य समझता। सोचता, उसकी निगाह न पड़ी होगी। मगर चार के चारों सेब खराब निकल जाएँ, यह तो साफ धोखा है। मगर इस धोखे में मेरा भी सहयोग था। मेरा उसके हाथ में रूमाल रख देना मानो उसे धोखा देने की प्रेरणा थी। उसने भाँप लिया कि यह महाशय अपनी आँखों से काम लेनेवाले जीव नहीं हैं और न इतने चौकस हैं कि घर से लौटाने आएँ। आदमी बेईमानी तभी करता है जब उसे अवसर मिलता है। बेईमानी का अवसर देना, चाहे वह ढीलेपन से हो या सहज विश्वास से, बेईमानी में सहयोग देना है। पढ़े-लिखे बाबुओं और कर्मचारियों पर तो अब कोई विश्वास नहीं करता। किसी थाने या कचहरी या म्युनिसिपल्टी में चले जाइए, आपकी ऐसी दुर्गति होगी कि आप बड़ी-से-बड़ी हानि उठाकर भी उधर न जाएँगे। व्यापारियों की साख अभी तक बनी हुई थी। यों तौल में चाहे छटाँक-आध छटाँक कस लें; लेकिन आप उन्हें पाँच की जगह भूल से दस के नोट दे आते थे तो आपको घबड़ाने की कोई जरूरत न थी। आपके रुपए सुरक्षित थे। मुझे याद है, एक बार मैंने मुहर्रम के मेले में एक खोंमचेवाले से एक पैसे की रेवड़ियाँ ली थीं और पैसे की जगह अठन्नी दे आया था। घर आकर जब अपनी भूल मालूम हुई तो खोंमचेवाले के पास दौड़ा गया। आशा नहीं थी कि वह अठन्नी लौटाएगा, लेकिन उसने प्रसन्न चित्त से अठन्नी लौटा दी और उलटे मुझसे क्षमा माँगी। और यहाँ कश्मीरी सेब के नाम से सड़े हुए सेब बेचे जाते हैं। मुझे आशा है, पाठक बाजार में जाकर मेरी तरह आँखें न बन्द कर लिया करेंगे। नहीं तो उन्हें भी कश्मीरी सेब ही मिलेंगे। ●

('हंस', 1936)

# यह भी नशा, वह भी नशा

होली के दिन राय साहब पण्डित घसीटेलाल की बारहदरी में भंग छन रही थी कि सहसा मालूम हुआ, जिलाधीश मिस्टर बुल आ रहे हैं। बुल साहब बहुत ही मिलनसार आदमी थे और अभी हाल ही में विलायत से आए थे। भारतीय रीति-नीति के जिज्ञासु थे, बहुधा मेले-ठेलों में जाते थे। शायद इस विषय पर कोई बड़ी किताब लिख रहे थे। उनकी खबर पाते ही यहाँ बड़ी खलबली मच गई। सब-के-सब नंग-धड़ंग मूसरचन्द बने भंग छान रहे थे। कौन जानता था कि इस वक्त साहब आएँगे। फुर्र-से भागे। कोई ऊपर जा छिपा, कोई घर में भागा, पर बिचारे राय साहब जहाँ के तहाँ निश्चल बैठे रह गए। आधा घण्टे में तो आप काँखकर उठते थे और घण्टे-भर में एक कदम रखते थे, इस भगदड़ में कैसे भागते? जब देखा कि अब प्राण बचने का कोई उपाय नहीं है तो ऐसा मुँह बना लिया मानो वह जानबूझकर इस स्वदेशी ठाठ से साहब का स्वागत करने को बैठे हैं। साहब ने बरामदे में आते ही कहा, "हलो राय साहब, आज तो आपका होली है?"

राय साहब ने हाथ बाँधकर कहा, "हाँ सरकार, होली है।"

बुल—"खूब लाल रंग खेलता है।"

राय साहब—"हाँ सरकार, आज के दिन की यही बहार है।"

साहब ने पिचकारी उठा ली। सामने मटकों में गुलाल रखा हुआ था। बुल ने पिचकारी भरकर पण्डितजी के मुँह पर छोड़ दी तो पण्डितजी नहा उठे। धन्य भाग! कैसे यह सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। वाह रे हाकिम! इसे प्रजावात्सल्य कहते हैं। आह! इस वक्त सेठ जोखनराम होते तो दिखा देते कि यहाँ जिला में अफसर इतनी कृपा करते हैं। बताएँ आकर कि उन पर किसी गोरे ने पिचकारी छोड़ी है? जिलाधीश का कहना ही क्या? यह पूर्व-तपस्या का फल है, और कुछ नहीं। कोई पहले एक सहस्र वर्ष तपस्या करे, तब यह परमपद पा सकता है। हाथ जोड़कर बोले, "धर्मावतार, आज जीवन सफल हो गया। जब सरकार ने होली खेली है, तो मुझे भी हुक्म मिले कि अपने हृदय की अभिलाषा पूरी कर लूँ।"

यह कहकर राय साहब ने गुलाल का एक टीका साहब के माथे पर लगा

दिया।

बुल—"इस बड़े बर्तन में क्या रखा है, राय साहब?"

राय—"सरकार, यह भंग है। बहुत विधिपूर्वक बनाई गई है हुजूर!"

बुल—"इसके पीने से क्या होगा?"

राय—"हुजूर की आँखें खुल जाएँगी। बड़ी विलक्षण वस्तु है सरकार!"

बुल—"हम भी पीएगा।"

राय साहब को जान पड़ा मानो स्वर्ग के द्वार खुल गए हैं और पुष्पक विमान पर बैठे ऊपर उड़े चले जा रहे हैं। गिलास तो साहब को देना उचित न था, पर कुल्हड़ में देते संकोच होता था। आखिर बहुत ऊँच-नीच सोचकर गिलास में भंग उँडेली और साहब को दी। साहब पी गए। मारे सुगन्ध के चित्त प्रसन्न हो गया।

## 2

दूसरे दिन राय साहब इस मुलाकात का जवाब देने चले। प्रातःकाल ज्योतिषी से मुहूर्त पूछा। पहर रात गए साइत बनती थी, अतएव दिनभर खूब तैयारियाँ कीं। ठीक समय पर चले। साहब उस समय भोजन कर रहे थे। खबर पाते ही सलाम दिया। राय साहब अन्दर गए तो शराब की दुर्गन्ध से नाक फटने लगी। बेचारे अंग्रेजी दवा न पीते थे। अपनी उम्र में शराब कभी न छुई थी। जी में आया कि नाक बन्द कर लें, मगर डरे कि साहब बुरा न मान जाएँ। जी मिचला रहा था, पर साँस रोके बैठे हुए थे। साहब ने एक चुस्की ली और गिलास मेज पर रखते हुए बोले, "राय साहब, हम कल आपका बंग पी गया, आज आपको हमारा बंग पीना पड़ेगा। आपका बंग बहुत अच्छा था। हम बहुत-सा खाना खा गया।"

राय—"हुजूर, हम लोग मदिरा हाथ से भी नहीं छूते। हमारे शास्त्रों में इसका छूना पाप कहा गया है।"

बुल—"(हँसकर) नहीं, नहीं, आपको पीना पड़ेगा राय साहब! पाप-पुन कुछ नहीं है। यह हमारा बंग है, वह आपका बंग है। कोई फरक नहीं है। उससे भी नशा होता है, इससे भी नशा होता है, फिर फरक कैसा?"

राय—"नहीं, धर्मावतार, मदिरा को हमारे यहाँ वर्जित किया गया है।"

बुल—"ऐसा कभी होने नहीं सकता। शास्त्र मना करेगा तो इसको भी मना करेगा, उसको भी मना करेगा। अफीम को भी मना करेगा। आप इसको पिएँ, डरें नहीं। बहुत अच्छा है।"

यह कहते हुए साहब ने गिलास में शराब उँडेलकर राय साहब के मुँह में लगा ही तो दी। राय साहब ने मुँह फेर लिया और आँखें बन्द करके दोनों हाथों से साहब को हटाने लगे। साहब की समझ में यह रहस्य न आता था। वह यही समझ रहे थे कि यह डर के मारे नहीं पी रहे हैं। अपने मजबूत हाथों से राय साहब की गरदन पकड़ी और गिलास मुँह की तरफ बढ़ाया। राय साहब को अब क्रोध आ गया। वह खातिर से सब-कुछ कर सकते थे; पर धर्म नहीं छोड़ सकते थे। जरा कठोर स्वर में बोले, "हुज़ूर, हम वैष्णव हैं। हम इसे छूना भी पाप समझते हैं।"

राय साहब इसके आगे और कुछ न कह सके। मारे आवेश के कण्ठावरोध हो गया। एक क्षण बाद जरा स्वर को संयत करके बोले, "हुज़ूर, भंग पवित्र वस्तु है। ऋषि, मुनि, साधु, महात्मा, देवी, देवता सब इसका सेवन करते हैं। सरकार, हमारे यहाँ इसकी बड़ी महिमा लिखी है। कौन ऐसा पण्डित है जो बूटी न छानता हो। लेकिन मदिरा का तो सरकार, हम नाम लेना भी पाप समझते हैं।"

बुल ने गिलास हटा लिया और कुर्सी पर बैठकर बोला, "तुम पागल का माफिक बात करता है। धरम का किताब बंग और शराब दोनों को बुरा कहता है। तुम उसको ठीक नहीं समझता। नशा को इसलिए सारा दुनिया बुरा कहता है कि इससे आदमी का अकल खत्म हो जाता है। तो बंग पीने से पण्डित और देवता लोग का अकल कैसे खत्म नहीं होगा, यह हम नहीं समझ सकता। तुम्हारा पण्डित लोग बंग पीकर राक्षस क्यों नहीं होता! हम समझता है कि तुम्हारा पण्डित लोग बंग पीकर खप्त हो गया है। तभी तो वह कहता है यह अछूत है, वह नापाक है, रोटी नहीं खाएगा, मिठाई खाएगा। हम छू लें तो तुम पानी नहीं पीएगा। यह सब खप्ती लोगों का बात। अच्छा सलाम!"

राय साहब की जान में जान आई। गिरते-पड़ते बरामदे में आए, गाड़ी पर बैठे और घर की राह ली। ●

('कफन' से, 1937)

# जादू

नीला—"तुमने उसे क्या लिखा?"

मीना—"किसको?"

"उसी को?"

"मैं नहीं समझती!"

"खूब समझती हो! जिस आदमी ने मेरा अपमान किया, गली-गली मेरा नाम बेचता फिरा, उसे तुम मुँह लगाती हो, क्या यह उचित है?"

"तुम गलत कहती हो!"

"तुमने उसे खत नहीं लिखा?"

"कभी नहीं।"

"तो मेरी गलती थी, क्षमा करो। तुम मेरी बहन न होतीं, तो मैं तुमसे यह सवाल भी न पूछती।"

"मैंने किसी को खत नहीं लिखा।"

"मुझे यह सुनकर खुशी हुई।"

"तुम मुस्कराती क्यों हो?"

"मैं!"

"जी हाँ, आप!"

"मैं तो जरा भी नहीं मुस्कराई।"

"क्या मैं अन्धी हूँ?"

"यह तो तुम अपने मुँह से ही कहती हो।"

"तुम क्यों मुस्कराई?"

"मैं सच कहती हूँ, जरा भी नहीं मुस्कराई।"

"मैंने अपनी आँखों से देखा।"

"अब मैं कैसे तुम्हें विश्वास दिलाऊँ?"

"तुम आँखों में धूल झोंकती हो।"

"अच्छा मुस्कराई। बस, या जान लोगी?"

"तुम्हें किसी के ऊपर मुस्कराने का क्या अधिकार है?"

"तेरे पैरों पड़ती हूँ नीला, मेरा गला छोड़ दे। मैं बिलकुल नहीं मुस्कराई।"

"मैं ऐसी अनीली नहीं हूँ।"

"यह मैं जानती हूँ।"

"तुमने मुझे हमेशा झूठी समझा है।"

"तू आज किसका मुँह देखकर उठी है?"

"तुम्हारा।"

"तू मुझे थोड़ा संखिया क्यों नहीं दे देती।"

"हाँ, मैं तो हत्यारिन हूँ ही।"

"मैं तो नहीं कहती।"

"अब और कैसे कहोगी, क्या ढोल बजाकर? मैं हत्यारिन हूँ, मदमाती हूँ, दीदा-दिलेर हूँ; तुम सर्वगुणागरी हो, सीता हो, सावित्री हो। अब खुश हुई?"

"लो कहती हूँ, मैंने उन्हें पत्र लिखा फिर तुमसे मतलब? तुम कौन होती हो, मुझसे जवाब तलब करनेवाली?"

"अच्छा किया, लिखा, सचमुच मेरी बेवकूफी थी कि मैंने तुमसे पूछा।"

"हमारी खुशी, हम जिसको चाहेंगे खत लिखेंगे। जिससे चाहेंगे बोलेंगे।"

"तुम कौन होती हो रोकनेवाली। तुमसे तो मैं नहीं पूछने जाती; हालाँकि रोज तुम्हें पुलिन्दों पत्र लिखते देखती हूँ।"

"जब तुमने शर्म ही भून खाई, तो जो चाहो करो, अख्तियार है।"

"और तुम कब से बड़ी लज्जावती बन गईं? सोचती होगी, अम्माँ से कह दूँगी, यहाँ इसकी परवाह नहीं है। मैंने उन्हें पत्र भी लिखा, उनसे पार्क में मिली भी। बातचीत भी की, जाकर अम्माँ से, दादा से और सारे मुहल्ले से कह दो।"

"जो जैसा करेगा, आप भोगेगा, मैं क्यों किसी से कहने जाऊँ?"

"ओहो, बड़ी धैर्यवाली, यह क्यों नहीं कहतीं, अंगूर खट्टे हैं?"

"जो तुम कहो, वही ठीक है।"

"दिल में जली जाती हो।"

"मेरी बला जले।"

"रो दो जरा।"

"तुम खुद रोओ, मेरा अँगूठा रोए।"

"मुझे उन्होंने एक रिस्टवाच भेंट दी है, दिखाऊँ?"

"मुबारक हो, मेरी आँखों का सनीचर न दूर होगा?"

"मैं कहती हूँ, तुम इतनी जलती क्यों हो?"

"अगर मैं तुमसे जलती हूँ, तो मेरी आँखें पट्टम हो जाएँ।"

"तुम जितना ही जलोगी, मैं उतना ही जलाऊँगी।"

"मैं जलूँगी ही नहीं।"

"जल रही हो साफ।"

"कब सन्देशा आएगा?"

"जल मरो।"

"पहले तेरी भाँवरें देख लूँ।"

"भाँवरों की चाट तुम्हीं को रहती है।"

"अच्छा! तो क्या बिना भाँवरों का ब्याह होगा?"

"यह ढकोसले तुम्हें मुबारक रहें, मेरे लिए प्रेम काफी है।"

"तो क्या तू सचमुच...!"

"मैं किसी से नहीं डरती।"

"यहाँ तक नौबत पहुँच गई! और तू कह रही थी, मैंने उसे पत्र नहीं लिखा और कसमें खा रही थी?"

"क्यों अपने दिल का हाल बतलाऊँ?"

"मैं तो तुझसे पूछती न थी, मगर तू आप-ही-आप बक चली।"

"तुम मुस्कराईं क्यों?"

"इसलिए कि वह शैतान तुम्हारे साथ भी वही दगा करेगा, जो उसने मेरे साथ किया और फिर तुम्हारे विषय में भी वैसे ही बातें कहता फिरेगा। और फिर तुम मेरी तरह उसके नाम को रोओगी।"

"तुमसे उन्हें प्रेम नहीं था?"

"मुझसे! मेरे पैरों पर सिर रखकर रोता था और कहता था कि मैं मर जाऊँगा और जहर खा लूँगा।"

"सच कहती हो?"

"बिलकुल सच।"

"यह तो वह मुझसे भी कहते हैं।"

"सच?"

"तुम्हारे सिर की कसम।"

"और मैं समझ रही थी, अभी वह दाने बिखेर रहा है।"

"क्या वह सचमुच...।"

"पक्का शिकारी है।"

मीना सिर पर हाथ रखकर चिन्ता में डूब जाती है। ●

('हंस', अप्रैल-मई, 1934)

## विष्णु प्रभाकर

जन्मतिथि : 21 जून, 1912

जन्मस्थान : गाँव मीरापुर, जिला मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश)

शिक्षा : बी.ए. के अलावा हिन्दी-संस्कृत में भूषण, प्राज्ञ, विशारद, प्रभाकर आदि

प्रकाशित कृतियाँ : कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, जीवनी, निबन्ध, यात्रा-वृत्तान्त, संस्मरण आदि विधाओं में लगभग सौ कृतियाँ प्रकाशित। शरतचन्द्र के जीवन पर आधारित 'आवारा मसीहा' इनकी ख्याति का प्रमुख आधार

सम्प्राप्ति : 'आवारा मसीहा' पर 'पाब्लो नेरुदा सम्मान' तथा सोवियत-लैण्ड नेहरू पुरस्कार। प्रसिद्ध नाटक 'सत्ता के आर-पार' पर भारतीय ज्ञानपीठ का 'मूर्तिदेवी पुरस्कार' व हिन्दी अकादमी, दिल्ली द्वारा 'शलाका सम्मान'

स्मृतिशेष : 11 अप्रैल, 2009

### संकलित लघुकथाएँ

फर्क, ईश्वर का चेहरा, पानी की जाति, इन्सान, चोरी का अर्थ, पश्चाताप, तर्क का बोझ, जाति या जान, भगवान और पुजारी, क्षमा, दोस्ती

# फर्क

उस दिन उसके मन में इच्छा हुई कि भारत और पाक के बीच की सीमारेखा को देखा जाए—जो कभी एक देश था, वह अब दो होकर कैसा लगता है। दो थे तो दोनों एक-दूसरे के प्रति शंकालु थे। दोनों ओर पहरा था। बीच में कुछ भूमि है जिस पर किसी का अधिकार नहीं। दोनों उस पर खड़े हो सकते हैं। वह वहीं खड़ा था, लेकिन अकेला नहीं था—पत्नी थी और थे अठारह सशस्त्र सैनिक और उनका कमाण्डर भी। दूसरे देश के सैनिकों के सामने वे उसे अकेला कैसे छोड़ सकते थे? इतना ही नहीं, कमाण्डर ने उसके कान में कहा, "उधर के सैनिक आपको चाय के लिए बुला सकते हैं, जाइएगा नहीं। पता नहीं क्या हो जाए? आपकी पत्नी साथ में है और फिर कल हमने उनके छह तस्कर मार डाले थे।"

उसने उत्तर दिया, "जी नहीं, मैं उधर कैसे जा सकता हूँ?"

और मन-ही-मन कहा—मुझे आप इतना मूर्ख कैसे समझते हैं? मैं इन्सान हूँ, अपने-पराए में भेद करना मैं जानता हूँ। इतना विवेक मुझमें है।

वह यह सब सोच ही रहा था कि सचमुच उधर के सैनिक वहाँ आ पहुँचे। रोबीले पठान थे। बड़े तपाक से हाथ मिलाया। उस दिन ईद थी। उसने उन्हें मुबारकबाद कहा। बड़ी गर्मजोशी के साथ एक बार फिर हाथ मिलाकर वे बोले, "इधर तशरीफ लाइए। हम लोगों के साथ एक प्याला चाय पीजिए।"

इसका उत्तर उसके पास तैयार था। अत्यन्त विनम्रता से मुस्कराकर उसने कहा, "बहुत-बहुत शुक्रिया। बड़ी खुशी होती आपके साथ बैठकर, लेकिन मुझे आज ही वापस लौटना है और वक्त बहुत कम है। आज तो माफी चाहता हूँ।"

इसी प्रकार शिष्टाचार की कुछ और बातें हुई कि पाकिस्तान की ओर से कुलाँचें भरता हुआ बकरियों का एक दल उनके पास से गुजरा और भारत की सीमा में दाखिल हो गया। एक साथ सबने देखा। एक क्षण बाद उसने पूछा, "ये आपकी हैं?"

उनमें से एक सैनिक ने गहरी मुस्कराहट के साथ उत्तर दिया, "जी हाँ जनाब, हमारी हैं। जानवर हैं, फर्क करना नहीं जानते।" ●

# ईश्वर का चेहरा

प्रभा जानती है कि धरती पर उसकी छुट्टी समाप्त हो गई हैं। उसे दुःख नहीं है। वह तो चाहती है कि जल्दी-से-जल्दी अपने असली घर जाए। उसी के वार्ड में एक मुस्लिम खातून भी उसी रोग से पीड़ित है। न जाने क्यों वह अक्सर प्रभा के पास आ बैठती है। सुख-दुःख की बातें करती है। नई-नई पौष्टिक दवाइयाँ, फल तथा अण्डे आदि खाने की सलाह देती है।

प्रभा सुनती है, मुस्करा देती है। सबीना बार-बार जोर देकर कहती है, "ना बहन, मैंने सुना है कि यह दवा खाने से बहुत फायद होता है और अमुक चीज खाने से तो तुम्हारे से खराब हालतवाले मरीज भी खुदा के घर से लौट आए हैं।"

"सच?"

"हाँ बहन, आजमाई हुई चीजें हैं।"

"तुमने खुद आजमाकर देखी है?"

सबीना एकाएक सकपका गई। उसका चेहरा मुरझा गया। एक क्षण शून्य में देखती रही। फिर बोली, "बहन, हम उन चीजों का इस्तेमाल कैसे कर सकेंगे? बहुत महँगी हैं और हम ठहरे झोंपड़-पट्टी के रहनेवाले। तुम्हें कितने लोग घेरे रहते हैं। उन लोगों को तो मैंने कई बार रोते देखा है। तुम ये महँगी चीजें खरीद सकती हो। शायद तुम्हारे बच्चों के भाग्य से अल्लाताला तुम पर करम फरमा दें।"

प्रभा सुनती रही, सबीना के चेहरे पर एकटक दृष्टि गड़ाए रही। उसे बराबर लगता रहा कि ईश्वर का अगर कोई चेहरा होगा तो सबीना के जैसा ही होगा। ●

# पानी की जाति

बी. ए. की परीक्षा देने वह लाहौर गया था। उन दिनों स्वास्थ्य बहुत खराब था। सोचा प्रसिद्ध डॉ. विश्वनाथ से मिलता चलूँ। कृष्णनगर से वे बहुत दूर रहते थे। सितम्बर का महीना था और मलेरिया उन दिनों यौवन पर था। वह भी उसके मोह-चक्र में फँस गया। जिस दिन डॉ. विश्वनाथ से मिलना था, ज्वर काफी तेज था। स्वभाव के अनुसार वह पैदल ही चल पड़ा, लेकिन मार्ग में तबीयत इतनी बिगड़ी कि चलना ही दूभर हो गया। प्यास के कारण प्राण कण्ठ को आने लगे। आस-पास देखा, मुसलमानों की बस्ती थी। कुछ दूर और चला, परन्तु अब आगे बढ़ने का अर्थ खतरनाक हो सकता था। साहस करके वह एक छोटी-सी दुकान में घुस गया। गांधी टोपी और धोती पहने हुए था। दुकान के मुसलमान मालिक ने उसकी ओर देखा और तल्खी से पूछा, "क्या बात है?"

जवाब देने से पहले वह बेंच पर लेट गया। बोला, "मुझे बुखार चढ़ा है, बड़े जोर की प्यास लग रही है। पानी या सोडा, जो कुछ भी हो, जल्दी लाओ।"

मुस्लिम युवक ने उसे तल्खी से जवाब दिया, "हम मुसलमान हैं।"

वह चिनचिनाकर बोल उठा, "तो मैं क्या करूँ?"

वह मुस्लिम युवक चौंका। बोला, "क्या तुम हिन्दू नहीं हो? हमारे हाथ का पानी पी सकोगे?"

उसने उत्तर दिया, "हिन्दू के भाई, मेरी जान निकल रही है। तुम जाति की बात करते हो। जो कुछ हो, लाओ।"

युवक ने एक बार फिर उसकी ओर देखा और अन्दर जाकर सोडे की एक बोतल ले आया। वह पागलों की तरह उस पर झपटा और पीने लगा; लेकिन इससे पहले कि पूरी बोतल पी सकता, उसे उल्टी हो गई और छोटी-सी दुकान गन्दगी से भर गई। लेकिन उस युवक का बरताव अब एकदम बदल गया था। उसने उसका मुँह पोंछा, सहारा दिया और बोला, "कोई डर नहीं। अब तबीयत कुछ हल्की हो जाएगी। दो-चार मिनट इसी तरह लेटे रहो। मैं शिकंजी बना लाता हूँ।"

उसका मन शान्त हो चुका था और वह यह सोच रहा था कि यह पानी, जो वह पी चुका है, क्या सचमुच मुसलमान था? ●

# इन्सान

चलती हुई लॉरी एक झटके के साथ रुक गई। अपनी टाँगों के लिहाज से बहुत ऊँची साइकिल चलानेवाला एक बालक उसके नीचे आ गया। बलराज यह सब देख रहा था। लॉरी के रुकते-रुकते वह फुरती से नीचे कूदा और बड़ी सावधानी से बालक को बाहर खींच लिया। उसके जख्मों से खून बह रहा था और बेहोश-सा था, पर तो भी कोई संगीन चोट उसे नहीं दिखाई दी। उसने एकदम उसे अस्पताल ले चलने की बात कही, पर तभी वहाँ भीड़ इकट्ठी हो गई। उसमें एक बूढ़ा आदमी भी था, जो कुछ इस तरह से उस बालक को देख रहा था कि बलराज से रहा नहीं गया, पूछा, "तुम्हारा बालक है?"

बूढ़े आदमी ने शान्त स्वर में कहा, "मेरा बेटा है।"

अचरज, वह न तो रोया, न ही किसी को गाली दी। बलराज ने उससे कहा, "इसे अभी अस्पताल ले चलते हैं। बच जाएगा। आओ, तुम भी अन्दर बैठ जाओ। ड्राइवर का इसमें कोई कसूर नहीं है।"

बूढ़ा उसी तरह बोला, "जैसा आप कहें।"

पर जो भीड़ इकट्ठी हो गई थी, वह बालक को तो भूल गई और ड्राइवर के पीछे पड़ गई, क्योंकि ड्राइवर और बालक दोनों अलग-अलग जातियों के थे। कुछ लोग आगे बढ़कर ड्राइवर को पीटने लगे। बलराज को उस समय ऐसा लगा कि अगर कुछ किया नहीं गया तो हालत बिगड़ जाएगी। बस, वह फुरती से लॉरी के हुड पर जा खड़ा हुआ और जोर-जोर से लेक्चर की तरह बोलकर लोगों को समझाने लगा। भीड़ पर इस बात का मनचाहा प्रभाव पड़ा और वह मुसाफिरों को समझा-बुझाकर लॉरी को अस्पताल ले जाने में सफल हो गया।

बूढ़ा चुप ही रहा। डॉक्टर के सामने भी नहीं बोला। उसकी दृष्टि बस लहूलुहान बेटे पर जमी हुई थी, जैसे वह मन-ही-मन भगवान् से उसे अच्छा करने की प्रार्थना कर रहा हो; लेकिन कानून की बात तो कानून की बात है, जब तक पुलिस नहीं आ जाती तब तक डॉक्टर घायल को छू नहीं सकता।

एक अद्‌भुत दृश्य था। एक घायल लड़का, जिसके घावों से बराबर खून बह

रहा है। एक बूढ़ा बाप, जो अपने घायल बेटे के बदन को सहलाता हुआ चुपचाप बैठा है, और वक्त बीत रहा है...और बलराज तिलमिला रहा है। सोच रहा है, इन्सान की कीमत! एक इन्सान की कीमत क्या कुछ भी नहीं है?

आखिर आधा घण्टा बाद हवलदार साहब पधारे। फीते से घावों की नपाई शुरू हुई। टाँगें, पैर, कन्धे, छाती, सिर और पीठ सभी स्थानों के घावों की पैमाइश हुई। फिर बालक का हुलिया, बाप का नाम, बालक का बयान और ड्राइवर का बयान, ये सब लिखे गए।

तब कहीं पट्टी शुरू हुई और उसे अस्पताल में दाखिल कर लिया गया। इसके बाद हवलदार ने बूढ़े से पूछा, "बाबा, लॉरीवाले का चालान करवाना चाहते हो?"

बूढ़े ने जवाब दिया, "उसका कोई कसूर नहीं है। मेरा बेटा बच गया। मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

किसी को इस उत्तर की आशा नहीं थी। सबके दिल श्रद्धा से भर उठे। हवलदार ने लॉरीवाले से कहा, "ड्राइवर!"

"हुजूर!"

"बाबा ने तुम्हें माफ कर दिया है। तुम लड़के के इलाज के लिए इसे दस रुपए दो!"

सब सुननेवालों ने इस बात का समर्थन किया और ड्राइवर ने फुरती से दस का एक नोट निकालकर बाबा की ओर बढ़ाया; लेकिन बाबा ने बड़ी सादगी से, जैसे कुछ हुआ ही नहीं था, उसका हाथ वापस फेर दिया और अपने बच्चे के सिरहाने जा बैठा। ●

# चोरी का अर्थ

एक लम्बे रास्ते पर सड़क के किनारे उसकी दुकान थी। राहगीर वहीं दरख्तों के नीचे बैठकर थकान उतारते और उससे कुछ चना-चबेना लेकर भूख मिटाते। दुकानदार उन्हें ठण्डा पानी पिलाता और सुख-दुःख का हाल पूछता। इस प्रकार तरोताजा होकर राहगीर अपने रास्ते पर आगे बढ़ जाते।

एक दिन एक मुसाफिर ने एक आने का सामान लेकर दुकानदार को एक रुपया दिया। उसने सदा की भाँति अन्दर की आलमारी खोली और रेजगारी देने के लिए अपनी चिर-परिचित पुरानी संदूकची उतारी। पर जैसे ही उसने ढक्कन खोला, उसका हाथ जहाँ था वहीं रुक गया। यह देखकर पास बैठे हुए आदमी ने पूछा, "क्यों, क्या बात है?"

"कुछ नहीं", दुकानदार ने ढक्कन बन्द करते हुए कहा, "कोई गरीब आदमी अपनी ईमानदारी मेरे पास गिरवी रखकर पैसे ले गया है।" ●

# पश्चाताप

भूषण जब प्रिंसिपल के कमरे में आया तब उसके हाथ में तेजाब की एक बोतल थी। आगे बढ़कर उसने उस बोतल को मेज पर रख दिया।

प्रिंसिपल ने दृष्टि उठाकर पूछा, "क्या है?"

"तेजाब की बोतल।"

"तेजाब की बोतल! क्यों, मैंने तुमसे बोतल लाने को कब कहा था?"

"जी नहीं, आपने नहीं कहा था।" भूषण ने कुछ सकपकाते हुए कहा।

"तो फिर क्यों लाए हो?" प्रिंसिपल ने कौतूहल से पूछा।

"जी", भूषण ने साहस बटोरकर शीघ्रता से जवाब दिया, "जी, मैं इसे चुराकर ले गया था।"

जैसे वज्रपात हुआ। प्रिंसिपल ने हठात् भूषण को देखा, बोतल को देखा, फिर भूषण को देखा। विश्वास नहीं हुआ। पूछा, "क्या कहते हो?"

भूषण शान्त हो चुका था। बोला, "जी, मुझे तेजाब की जरूरत थी, इसलिए एक महीना पहले मैं इसे साइंस-रूम से चुराकर ले गया था।"

प्रिंसिपल साहब का कौतूहल बढ़ता ही जा रहा था। पूछा, "एक महीना पहले?"

"जी हाँ।"

"लेकिन अब तक इस्तेमाल नहीं किया?"

"जी, कर नहीं सका।"

"क्यों?"

"जी, जब भी करना चाहता था तो दिल काँपने लगता था।"

"फिर क्या होता था?"

"जी, मैं उसे आलमारी में बन्द करके रख देता था।"

"फिर?"

"फिर भी मन को शान्ति नहीं मिलती थी। लगता था, जैसे मैंने कोई बुरा काम किया है।"

प्रिंसिपल ने यन्त्रवत् कहा, "और शायद इस तरह एक महीना बीत गया?"

"जी हाँ, इसी तरह एक महीना बीत गया, लेकन अब मुझसे रहा नहीं गया। मैं इसे यहाँ ले आया हूँ।"

"मेरे पास क्यों लाए हो? वहीं क्यों नहीं रख दिया, जहाँ से ले गए थे?"

"जी, यह तो एक बार फिर चोरी करना होता।"

प्रिंसिपल का मन जैसे खिल उठा। प्रसन्नता से गद्‌गद् होकर वह बोले, "बहुत अच्छा! तुमने बहुत अच्छा काम किया है। मैं तुमसे बहुत खुश हूँ।"

यह कहकर वह फिर अपने काम में लग गए, पर भूषण वहीं खड़ा रहा। उन्होंने देखा तो पूछा, "अब क्या बात है?"

भूषण ने कहा, "मुझे सजा तो मिली नहीं।"

प्रिंसिपल मुस्कराए। बोले, "एक महीने तक तुम पछतावे की आग में जलते रहे हो, वही क्या कम सजा है, जो मैं तुम्हें और दूँ?"

यह कहकर वह फिर पहले की तरह अपने काम में लग गए। ●

# तर्क का बोझ

नंगे पैर, सिर पर बिक्री के सामान का थाल रखे वह रोता हुआ चला आ रहा था। वह बार-बार कुरते की बाँह से आँसू पोंछ लेता था, पर आँसू थे कि रुकते ही नहीं थे।

उसके रोने ने लोगों का ध्यान उसकी ओर खींचा। मेरा दिल भी भीग गया। मैंने आवाज देकर उसे अपने पास बुलाया और पूछा, "क्यों रोता है रे?"

उसने सुबकते हुए जवाब दिया, "मेरे पैसे निकाल लिए।"

"किसने?"

"पता नहीं।"

"कहाँ रखे थे?"

"थाल में।"

दिनभर घूम-घूमकर उसने लगभग दो रुपए का सामान बेचा था। उसमें से एक रुपया दस आने बाँधकर उसने अलग रख लिए थे। उस बँधी हुई पुड़िया को किसी राह चलते ने थाल से उचककर निकाल लिया था।

उसकी यह कहानी सुनने के बाद कुछ लोगों ने कन्धे उचकाकर दोनों हाथ हिलाए और चले गए। एक राहगीर ने तीव्रता से नवयुग की सभ्यता को कोसना शुरू कर दिया।

करुणा के बावजूद मेरे मन में पहली प्रतिक्रिया अच्छी नहीं हुई। सोचा, यह लड़का धूर्त जान पड़ता है। पैसे कहीं रख आया है और अब झूठ-मूठ लोगों की करुणा का अनुचित लाभ उठाना चाहता है। नई दिल्ली में ऐसे कई लड़के घूमा करते हैं। एक लड़का शाम को अखबार बेचा करता है और रोज फटी जेब दिखाकर रोता हुआ कहता है, "मेरी जेब फट गई, पैसे गिर गए, अब मालिक को क्या दूँगा?"

और तब सड़क पर चलनेवाले सैकड़ों व्यक्तियों में से कोई-न-कोई ऐसा निकल ही आता है, जो उस बालक के करुण विलाप से द्रवित हो उठता है और उसे छह आने पैसे दे देता है।

'तो क्या यह भी उसी जैसा है? क्या यह भी पेशेवर है?'

लगता तो ऐसा ही है—मैंने अपने आपसे कहा और आगे बढ़ना चाहा, पर तभी मन में तर्क उठा—यह लड़का तो छब्बीस आने उठाए जाने की बात कहता है जबकि छह आने और छब्बीस आने में अन्तर है। फिर उसकी जेब फटी नहीं है। किसी ने उसके थाल में से पैसे उठाए हैं। मैंने स्वयं कई लम्बे आदमियों को छोटे व्यक्तियों या बालकों के सिर पर रखे सामान में से चोरी करते देखा है।

मन कुछ ढीला पड़ा और करुणा की पकड़ कुछ गहरी हुई, पर तब तक वह बालक दूर जा चुका था। इस बात ने मुझे और भी प्रभावित किया। वह कहानी कहकर रुका नहीं, चला ही गया। वह अवश्य सच्चा था, झूठा होता तो गिड़गिड़ाता, खड़ा रहता।...

नहीं-नहीं, वह सच्चा है। किसी दुष्ट ने उस गरीब की कमाई पर डाका डाला है। बेचारा गरीब बालक, शायद उसका बाप मर चुका है। घर पर उसकी माँ उत्सुकता से उसकी राह देख रही होगी। डाके की बात सुनकर वह क्या कहेगी? उसका दिल टूट जाएगा। उन्हें शायद फाका भी करना पड़े...।

बस, मेरा मन द्रवीभूत हो उठा। मैंने जेब में हाथ डाला और एक रुपए का नोट निकालकर उसके पीछे लपका।

वह तब तक गली से बाहर मुख्य सड़क पर आ गया था। कुछ अँधेरे के कारण और कुछ मोड़ होने के कारण मैं उसे ठीक-ठीक देख भी नहीं पा रहा था। केवल उसका रुदन मेरा मार्ग-दर्शन कर रहा था।

मैं और तेजी से लपका और कुछ पास आकर चाहा कि पुकारूँ कि तभी देखता हूँ कि एक राहगीर उसके पास आकर कुछ पूछ रहा है। मानो मुझे लगा हो कि वह व्यक्ति लड़के के रहे-सहे पैसे छीनने आया है। मैं आवेश में आकर चिल्ला उठा, "क्या बात है?"

राहगीर मुड़ा, बोला, "कुछ नहीं बाबूजी। बेचारे बच्चे के थाल में से किसी कम्बख्त ने पैसे उठा लिए हैं।"

यह सब पलक मारते हो गया और जब तक मैं उनके पास पहुँचूँ, वह व्यक्ति जिस तेजी से आया था उसी तेजी से भीड़ में जा मिला। मुड़ते-मुड़ते जितना कुछ मैं उसे देख सका, उससे पता लगा कि वह कोई गरीब मजदूर था, उसके कपड़े मैले थे और पैर नंगे।

मैं अब उस लड़के के बिलकुल पास आ गया था और वह लड़का चुपचाप ढेर सारे पैसों को कागज में लपेट रहा था। मैं काँपा। नोट को मुट्ठी में भींचकर कुछ तल्खी से पूछा, "क्यों रे, पैसे कहाँ से आए?"

"वह आदमी दे गया है।"

"सब?"

"उसने एक रुपया दस आने दिए हैं।"

यह कहकर वह भी आगे बढ़ गया, पर मेरे पैर तो जैसे मन-मन भर के हो गए थे। तर्क का बोझ जैसे धरती में गाड़े दे रहा था। हाथ में नोट दबाए लज्जित-कम्पित देर तक वहीं खड़ा रहा। ●

# जाति या जान

चकरौता के नीचे एक सुन्दर प्रपात है। अपने एक साथी के साथ वह एक तड़के उसे देखने चला। पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं हुई। वह स्थान इतना सुन्दर था कि वहाँ से हटने को मन नहीं करता था। चारों ओर हरियाली, पृष्ठभूमि में पर्वत-शृंखला, कई स्थानों से नीचे आता हुआ प्रपात का फेनिल जल और उससे अठखेलियाँ करती प्रभात की किरणें। रजत-स्वर्णिम इस मृगजाल पर नेत्र जैसे ठिठक-ठिठक जाते थे। जी भरकर घूमा, स्नान किया। जहाँ खतरा था, वहीं उत्फुल्ल सौन्दर्य पाया। प्राण पुलक उठे, लेकिन देखते-देखते सूर्य मध्य रेखा के बहुत पास पहुँच गया। तब लौटने का होश आया। आते समय जो गहरी ढलान थी, वही अब प्राण-लेवा चढ़ाई में बदल गई। कुछ क्षण वह चौकड़ी भरता रहा। फिर साँस फूलने लगी। पैरों ने जवाब दे दिया। स्फूर्ति थकान में बदल गई। जैसे ही एक चढ़ान पूरी होती, दूसरी सिर ऊँचा किए सामने आ खड़ी होती। किसी तरह उसे पार करते तो तीसरी, चौथी, पाँचवीं सिर उठाती चली जातीं। मध्य तक पहुँचते-पहुँचते शरीर ने जवाब दे दिया। पहाड़ी तीव्र धूप के कारण भयंकर प्यास लग गई, लेकिन आस-पास बस चढ़ाई थी और कुछ नहीं था। प्रपात का स्वर भी सो चुका था और चकरौता की बस्ती कहीं आकाश के पीछे छिपी थी। संकट में साहस सघन हो उठता है। कुछ और आगे बढ़ा। दूर एक खेत में एक कुटिया नजर आई और अनायास ही पैर उधर मुड़ गए। पास पहुँचते-पहुँचते साँस फूल चुकी थी। किसी तरह चट्टान का सहारा लेकर वह रुका और शरीर का समस्त जोर लगाकर पुकारा—"कोई है?"

कई क्षण बाद कुटिया में से एक युवक बाहर आया। सिर पर मुँडासा बाँधे हुए था। मोटा कुरता और ऊँची धोती बता रहे थे कि यह किसान है। लेकिन मूँछों का कटाव उसके मुसलमान होने की घोषणा भी कर रहा था। उसने हाँफते-हाँफते किसी तरह कहा, "पानी।"

उस युवक ने उसकी ओर देखा और कहा, "मैं मुसलमान हूँ।"

वह बोला, "तो क्या हुआ?"

उसने कहा, "होता क्या, मैं तुम्हारी जाति नहीं ले सकता। तुम हिन्दू हो। अपने रास्ते जाओ।"

प्राण जैसे निकलने को हो रहे थे, पर किसी तरह साहस बटोरकर वह फिर बोला, "भाई, मैं जाति की बात नहीं कर रहा, जान की कर रहा हूँ। तुम जान तो नहीं लोगे। मुझे पानी दो। नहीं तो मैं मर जाऊँगा।"

वह युवक मुड़ा। बोला, "नहीं-नहीं, मैं पानी नहीं दूँगा।"

उसके स्वर में गहरी कड़वाहट थी और वह अपनी झोंपड़ी में जाने के लिए मुड़ गया था। चट्टान के दूसरी ओर फूँस की टूटी हुई एक और झोंपड़ी थी। उसमें शायद बैल बाँधे जाते थे। पुआल बिछा हुआ था। किसी तरह अपने को खींचकर वह वहाँ तक पहुँचा और गिर पड़ा। गिरते-गिरते बोला, "मैं यहीं पड़ा हूँ। देखता हूँ, तुम जाति लेते हो या जान।"

लेकिन वह अपना वाक्य पूरा कर पाता कि देखता है, वह युवक एक हाथ में लोटा लिए वहाँ आ गया है, बोला, "पहले जरा मुँह धो लो और दो मिनट यहीं लेटे रहो। फिर मैं शरबत ले आता हूँ।" ●

# भगवान और पुजारी

ऊँची जातियाँ कुछ लोगों को अछूत मानती हैं। उनसे दूर रहती हैं। उन्हें अपने मन्दिरों में और अपने कुओं पर नहीं आने देतीं।

एक दिन अछूत जाति के एक व्यक्ति ने एक मन्दिर के पुजारी से कहा, "मैं मन्दिर में आकर भगवान् के दर्शन करना चाहता हूँ।"

पुजारी बोला, "तुम मन्दिर में नहीं आ सकते। तुम अछूत हो।"

उस व्यक्ति ने पूछा, "क्या मैं किसी भी तरह मन्दिर में नहीं आ सकता?"

पुजारी ने उत्तर दिया, "कह तो दिया, तुम नहीं आ सकते। तुम्हारा जन्म नीची जाति में हुआ है, लेकिन हाँ, एक रास्ता है—तुम दो साल तक तपस्या करो। फिर मेरे पास आओ, तब मैं तुम्हारी बात पर फिर विचार करूँगा।"

दुःखी और उदास वह व्यक्ति अपने घर लौट गया। फिर धीरे-धीरे दिन बीतने लगे। एक वर्ष बीता, दो वर्ष बीते, तीसरा वर्ष भी बीत गया। वह व्यक्ति पुजारी के पास नहीं आया। अचानक एक दिन पुजारी ने उसे मन्दिर के पास से जाते हुए देख लिया। उसे अन्दर आने की जरा भी चिन्ता नहीं थी। पुजारी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उसे पुकारा, "सुनो भाई, अब तो तीन वर्ष बीत गए। मैंने तुम्हें दो वर्ष बाद आने को कहा था। क्या तुमने मेरे कहने के अनुसार तपस्या नहीं की?"

उस व्यक्ति ने उत्तर दिया, "महाराज, मैं तो आपका बहुत ही कृतज्ञ हूँ। मैंने दो वर्ष बड़ी कठिन तपस्या की, इतनी कि भगवान् सचमुच प्रसन्न हो गए। उन्होंने मुझे दर्शन दिए और पूछा, 'क्या चाहते हो वत्स?' मैंने कहा, 'प्रभु! मैं मन्दिर में आपके दर्शन करना चाहता हूँ।' प्रभु हँसे, बोले, 'तुम वहाँ जाकर क्या करोगे? हजारों वर्ष बीत गए हैं, मैं भी वहाँ नहीं गया हूँ'।"

यह सुनकर पुजारी का चेहरा राख हो आया, लेकिन उसका घमण्ड दूर नहीं हो सका। आज भी वह प्रभुहीन मन्दिर के द्वार बन्द किए बैठा है। ●

# क्षमा

डोरा दीदी एक प्रसिद्ध नर्स हुई हैं। वह जिस नगर के अस्पताल में काम करती थीं, वहाँ कुछ नागरिक नर्सों से घृणा करते थे। वे उन्हें रोमन कैथोलिक समझते थे, इसलिए उनका वहाँ रहना सहन नहीं कर सकते थे।

वह घृणा ऐसी थी कि डोरा दीदी को सड़क पर चलना कठिन हो जाता था। वहाँ के नागरिक उनका मजाक ही नहीं उड़ाते, बल्कि अवसर देखकर उन पर हाथ भी छोड़ बैठते थे। एक दिन जब वह सड़क से जा रही थीं तो एक युवक ने चिल्लाकर कहा, "देखो, यह दुर्भाग्य की मूर्ति जा रही है। मैं इसे यहाँ नहीं रहने दूँगा।"

यह कहने के साथ ही उसने एक बड़ा-सा पत्थर उठाकर बड़े जोर से दीदी के ऊपर फेंका। वह उनके मस्तक में लगा। खून की धारा बह निकली। कपड़े तर हो गए। परन्तु वह सदा की तरह शान्त रहीं। एक शब्द नहीं बोलीं। चुपचाप अस्पताल लौट आईं।

उस बात को बीते बहुत दिन नहीं हुए थे कि एक दिन वहाँ जो कोयले की खान थी, उसमें जोर का धमाका हुआ। जो मजदूर उस समय वहाँ काम कर रहे थे, उनको बहुत चोटें आईं। वे अस्पताल लाए गए। डोरा दीदी और उनकी दूसरी सहेलियों ने घायलों की सेवा करने में कुछ नहीं उठा रखा। उन्होंने उन पर बराबर स्नेह की वर्षा की और अपनी सेवा से उनका मन मोह लिया। वे लोग उन नर्सों को सदा गाली दिया करते थे। उन्हीं में वह युवक भी था, जिसने एक दिन दीदी पर पत्थर फेंका था। वह उन्हें बहुत अच्छी तरह पहचानता था। उसके मारे हुए पत्थर का निशान उनके मस्तक पर बना हुआ था। वह युवक उस निशान को देखता और सिर से पैर तक सिहर उठता। लेकिन वह समझता था कि दीदी उसे पहचानती नहीं हैं। पहचानतीं तो इतनी सेवा कैसे करतीं! पत्थर के बदले में उसे स्नेह मिल सकता है, यह कल्पना करने में वह असमर्थ था; लेकिन ज्यों-ज्यों दीदी का स्नेह बढ़ता था, त्यों-त्यों उसके दिन में पछतावे की आग तेज होती जाती थी।

आखिर एक दिन उससे नहीं रहा गया। वह दीदी का हाथ अपने हाथ में

लेकर रोने लगा। दीदी सदा की तरह शान्त, परन्तु स्नेह भरे स्वर में बोलीं, "क्या बात है? तुम रोते क्यों हो? क्या तुम्हें कोई कष्ट है?"

युवक के मुख से एक शब्द नहीं निकला, वह बराबर रोता रहा। दीदी उसके पास बैठ गईं और धीरे-धीरे उसका हाथ सहलाने लगीं। सहलाती रहीं और वह चुपचाप लेटा रहा। जब उसके आँसू कुछ थमे, तब उसने धीरे से पुकारा, "दीदी!"

"कहो!"

"आप मुझे जानती हैं?"

"हाँ, जानती क्यों नहीं!" दीदी ने मुस्कराकर कहा, "तुम कोयले की खान में काम करते हो।"

"नहीं-नहीं", युवक व्यग्रता से बोला, "आप मुझे नहीं जानतीं। मैं...मैं वह युवक हूँ, जिसने आप पर पत्थर फेंका था।"

दीदी ने उसी तरह मुस्कराकर जवाब दिया, "वह भी जानती हूँ। जिस क्षण तुम अन्दर लाए गए थे, उसी क्षण मैंने तुम्हें पहचान लिया था।"

"क्या!" युवक बड़े जोर से काँपकर बोला, "यह सब जानकर भी आपने मेरी इतनी सेवा की!" ●

# दोस्ती

यात्रियों से भरी बस अब वहाँ आ पहुँची थी, जहाँ प्रायः सन्नाटा रहता था। दूर-दूर तक फैली बंजर भूमि। उससे परे छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, सड़क पर गहरे गड्ढे। यात्री भी मौन हो गए थे मानो वातावरण ने उन्हें भी ग्रस लिया हो कि तभी उस त्रासद सन्नाटे को तोड़ती बस सहसा एक झटके के साथ रुक गई। गिरते-टकराते यात्री किसी आशंका से चौंक उठे। वे कुछ समझें कि एक क्रूर-कड़कता स्वर गूँज उठा, "खबरदार! जो कोई हिला। गोली मार दूँगा।"

ओह! ये तो डाकू हैं...

दिन का प्रकाश अभी शेष था, भयातुर दृष्टि से सबने देखा—सचमुच उनकी बस को डाकुओं ने घेर लिया था। उनके चेहरों पर नकाब था और हाथों में स्वचालित हथियार। क्षणभर में अनेक कण्ठों से चीख-सिसकियाँ उठीं-दबीं। हृदय की धड़कनें झंझा की तरह साँय-साँय करती रहीं।

और डाकू लूटते रहे—बटुए, जेवर, घड़ियाँ, सूटकेस—सभी कुछ सहेज लिया उन्होंने। किसी ने प्रतिवाद करने का साहस जुटाया कि कुन्दे की मार पड़ी।

यात्रियों में एक विधायक भी था, सपत्नीक। वे दोनों भी नहीं बचे। कोई उनकी मदद को आगे नहीं आया। लेकिन जब डाकू जाने लगे तो अघटित घट गया। डाकुओं के सरदार ने एक-एक करके विधायक की चीजें लौटा दीं—पर्स, मणिमाला, ब्रीफकेस, सूटकेस सब-कुछ।

वे चले गए। यात्रियों की दृष्टि अब विधायक पर थी। अपनी व्यथा भूलकर एक ने विधायक से पूछा, "उन्होंने आपकी सब चीजें लौटा दीं?"

"जी हाँ।"

"आप उन्हें जानते हैं?"

"जी हाँ।"

"कौन हैं?"

"उनका लीडर मेरा सहपाठी रहा है और..."

"और..."

"इस इलाके का उप-पुलिस अधीक्षक है वह।"

"क्या...?" एक साथ कई चीख उठे।

दो क्षण बाद किसी ने साहस किया, "आप विधायक हैं। आपको इसकी रिपोर्ट मुख्यमन्त्री से करनी चाहिए।"

"मैं ऐसा कुछ नहीं करूँगा।"

फिर एक साथ कई चीख उठे, "क्यों नहीं करेंगे?"

"क्योंकि, उसने मुझसे दोस्ती निभाई! मैं उससे निभाऊँगा।" ●

# *हरिशंकर परसाई*

जन्मतिथि : 22 अगस्त, 1924
जन्मस्थान : जमानी गाँव, जिला होशंगाबाद (मध्य प्रदेश)
शिक्षा : एम.ए. (हिन्दी), डिप्लोमा इन टीचिंग
प्रकाशित कृतियाँ : हँसते हैं रोते हैं, भूत के पाँव पीछे, तब की बात और थी, जैसे उनके दिन फिरे, सदाचार का ताबीज, पगडण्डियों का जमाना, रानी नागफनी की कहानी, वैष्णव की फिसलन, शिकायत मुझे भी है, अपनी-अपनी बीमारी, ठिठुरता हुआ गणतन्त्र, निठल्ले की डायरी, बोलती रेखाएँ, एक लड़की पाँच दीवाने, और अन्त में, तट की खोज, माटी कहे कुम्हार से, पाखण्ड का अध्यात्म, सुनो भई साधो तथा विकलांग श्रद्धा का दौर
सम्पादन : 'वसुधा' नामक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन-सम्पादन
सम्प्राप्ति : भारतीय साहित्य के सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार। अपने महत्त्वपूर्ण साहित्यिक अवदान के लिए जबलपुर विश्वविद्यालय से डी.लिट्. की मानद उपाधि। 1982 में साहित्य अकादमी से सम्मानित। विश्व शान्ति सम्मेलन (1962) में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के एक सदस्य के नाते सोवियत रूस की यात्रा
निधन : 10 अगस्त, 1995

## संकलित लघुकथाएँ

संस्कृति, जाति, सूअर, यस सर, खेती, रोटी, अनुशासन, देव-भक्ति, प्रथम स्मगलर, बदचलन, बात

# संस्कृति

भूखा आदमी सड़क के किनारे कराह रहा था। एक दयालु आदमी रोटी लेकर उसके पास पहुँचा और उसे दे ही रहा था कि एक दूसरे आदमी ने उसका हाथ खींच लिया। वह आदमी बड़ा रंगीन था।

पहले आदमी ने पूछा, "क्यों भाई, भूखे को भोजन क्यों नहीं देने देते?"

रंगीन आदमी बोला, "ठहरो, तुम इस प्रकार उसका हित नहीं कर सकते। तुम केवल उसके तन की भूख समझ पाते हो, मैं उसकी आत्मा की भूख जानता हूँ। देखते नहीं हो, मनुष्य-शरीर में पेट नीचे है और हृदय ऊपर। हृदय की अधिक महत्ता है।"

पहला आदमी बोला, "लेकिन उसका हृदय पेट पर ही तो टिका हुआ है। अगर पेट में भोजन नहीं गया, तो हृदय की टिक-टिक बन्द नहीं हो जाएगी!"

रंगीन आदमी हँसा। फिर बोला, "देखो, मैं बतलाता हूँ कि उसकी भूख कैसे बुझेगी!"

यह कहकर वह उस भूखे के सामने बाँसुरी बजाने लगा। दूसरे ने पूछा, "यह तुम क्या कर रहे हो? इससे क्या होगा?"

रंगीन आदमी बोला, "मैं उसे संस्कृति का राग सुना रहा हूँ। तुम्हारी रोटी से तो एक दिन के लिए ही उसकी भूख भागेगी, संस्कृति के राग से उसकी जनम-जनम की भूख भागेगी।"

वह फिर बाँसुरी बजाने लगा।

और तब वह भूखा उठा। उसने बाँसुरी झपटकर पास की नाली में फेंक दी। ●

# जाति

कारखाना खुला, कर्मचारियों के लिए बस्ती बन गई।

ठाकुरपुरा से ठाकुर साहब और ब्राह्मणपुरा से पण्डितजी कारखाने में काम करने लगे और पास-पास के ब्लॉक में रहने लगे।

ठाकुर साहब का लड़का और पण्डितजी की लड़की दोनों जवान थे। उनमें पहचान हुई। पहचान इतनी बढ़ी कि वे शादी करने को तैयार हो गए।

जब प्रस्ताव उठा तो पण्डितजी ने कहा, "ऐसा कभी हो सकता है? ब्राह्मण की लड़की ठाकुर से शादी करे! जाति चली जाएगी।"

ठाकुर साहब ने भी कहा कि ऐसा हो नहीं सकता। पर-जाति में शादी करने से हमारी जाति चली जाएगी।

किसी ने उन्हें समझाया कि लड़के-लड़की बड़े हैं, पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं। उन्हें शादी कर लेने दो। अगर उनकी शादी नहीं हुई, तो भी वे चोरी-छिपे मिलेंगे और तब जो उनका सम्बन्ध होगा, वह तो व्यभिचार कहा जाएगा।

इस पर ठाकुर साहब और पण्डितजी ने कहा, "होने दो! व्यभिचार से जाति नहीं जाती है; शादी से जाती है।" ●

# सूअर

चौबेजी को मैं पाण्डेजी के घर ले गया।

चौबेजी के लड़के की शादी की बात पाण्डेजी की लड़की से चल रही थी। हम पाण्डेजी के घर के बरामदे में बैठे थे। लड़की चाय-नाश्ता दे गई थी। चौबेजी ने उसे देख लिया था। पाण्डेजी का पैतृक मकान था। वह शहर के पुराने मुहल्ले में था। गन्दा मुहल्ला था। बरामदे से कचरे के ढेर दिख रहे थे। आसपास सूअरों की कतारें घूम रही थीं।

चौबेजी यह देख रहे थे और उन्हें मितली-सी आ रही थी। वे बोले, "हॉरीबल! इस कदर सूअर घूमते हैं, घर के आसपास!"

बाकी बात मुझे करनी थी। हम लौटे। चौबेजी से मैं दो-तीन दिन बाद मिला। उन्होंने कहा, "भई, लड़की तो बहुत अच्छी है। मगर पाण्डे का घर बहुत गन्दी जगह है। सूअर आसपास घूमते हैं। हॉरीबल!"

मैंने कहा, "मगर आपको उस घर से क्या करना है? आपको तो लड़की ब्याहकर लानी है।"

चौबेजी ने कहा, "मगर क्या लड़का ससुराल नहीं जाएगा? या मैं समधी से कोई सम्बन्ध नहीं रखूँगा? मैं सबसे ज्यादा इस सूअर से नफरत करता हूँ। आई हेट दीज पिग्ज। मुझे अभी भी उस घर की कल्पना से मितली आती है।"

मैंने कहा, "सोच लीजिए। लड़की बहुत अच्छी है। परिवार अच्छा है।"

चौबेजी ने कहा, "सो तो मैं मानता हूँ। मगर मैं लड़के की बारात लेकर उनके दरवाजे पर पहुँचा और मुझे उल्टी हो गई तो? दोज पिग्ज!" मैं बरदाश्त नहीं कर सकता।"

मैंने कहा, "वैसे पाण्डे काफी देंगे।"

चौबे बोले, "क्या देंगे? यही दस-पन्द्रह हजार।"

मैंने कहा, "नहीं, पचास हजार देंगे। जेवर अलग। एक ही तो उनकी सन्तान है।"

चौबेजी सोचने लगे। सूअर से लौटकर रुपयों तक आने में उन्हें कुछ वक्त

लगा। थोड़ी और बातचीत के बाद उन्होंने कहा, "जब तुम्हारा इतना जोर है, तो रिश्ता तय कर दो।"

चौबेजी ठाठ से बेटे की बारात लेकर पाण्डेजी के द्वार पर पहुँचे।

द्वार पर पन्द्रह हजार रुपए दिए गए।

शामियाने के नीचे चौबेजी बैठे थे। उनकी नजर वहीं लगी थी, जहाँ विवाह की रस्में हो रही थीं। वे इन्तजार कर रहे थे कि थाली में पैंतीस हजार और आते होंगे।

इसी समय एक सूअर का बच्चा वहाँ घुस आया। दो-तीन लोग उसे बाहर खदेड़ने लगे। एक-दो ने उसे छड़ी मारी। सूअर का बच्चा घबड़ाकर भटक गया। उसे रास्ता नहीं मिल रहा था। वह चौबेजी की तरफ बढ़ा। लोग उसके पीछे पड़े थे। चौबेजी ने कहा, "अरे, अरे, उसे तंग मत करो। सूअर का बच्चा बड़ा खूबसूरत होता है। वेरी स्वीट!"

और चौबेजी प्यार से सूअर के बच्चे पर हाथ फेरने लगे। इसी समय थाली में पैंतीस हजार रुपए आ गए।

सूअर का बच्चा ऐसे इत्मीनान से खड़ा था, जैसे अपने पिता के पास हो। ●

# यस सर!

एक काफी अच्छे लेखक थे। वे राजधानी गए। एक समारोह में उनकी मुख्यमन्त्री से भेंट हो गई। मुख्यमन्त्री से उनका परिचय पहले से था। मुख्यमन्त्री ने उनसे कहा—आप मजे में तो हैं। कोई कष्ट तो नहीं है? लेखक ने कह दिया—कष्ट बहुत मामूली है। मकान का कष्ट। अच्छा-सा मकान मिल जाए, तो कुछ ढंग से लिखना-पढ़ना हो। मुख्यमन्त्री ने कहा—मैं चीफ सेक्रेटरी से कह देता हूँ। मकान आपको 'एलाट' हो जाएगा।

मुख्यमन्त्री ने चीफ सेक्रेटरी से कह दिया कि अमुक लेखक को मकान 'एलाट' करा दो।

चीफ सेक्रेटरी ने कहा—यस सर!

चीफ सेक्रेटरी ने कमिश्नर से कह दिया। कमिश्नर ने कहा—यस सर!

कमिश्नर ने कलेक्टर से कहा—अमुक लेखक को मकान 'एलाट' कर दो। कलेक्टर ने कहा—यस सर!

कलेक्टर ने रेण्ट कण्ट्रोलर से कह दिया। उसने कहा—यस सर!

रेण्ट कण्ट्रोलर ने रेण्ट इन्सपेक्टर से कह दिया। उसने भी कहा, यस सर!

सब बाजाब्ता हुआ। पूरा प्रशासन मकान देने के काम में लग गया। साल-डेढ़ साल बाद फिर मुख्यमन्त्री से लेखक की भेंट हो गई। मुख्यमन्त्री को याद आया कि इनका कोई काम होना था। मकान 'एलाट' होना था।

उन्होंने पूछा—कहिए, अब तो अच्छा मकान मिल गया होगा?

लेखक ने कहा—नहीं मिला।

मुख्यमन्त्री ने कहा—अरे, मैंने तो दूसरे ही दिन कह दिया था।

लेखक ने कहा—जी हाँ, ऊपर से नीचे तक 'यस सर' हो गया। ●

# खेती

सरकार ने घोषणा की कि हम अधिक अन्न पैदा करेंगे और एक साल में खाद्य में आत्म-निर्भर हो जाएँगे।

दूसरे दिन कागज के कारखानों को दस लाख एकड़ कागज का ऑर्डर दे दिया गया।

जब कागज आ गया, तो उसकी फाइलें बना दी गईं। प्रधानमन्त्री के सचिवालय से फाइल खाद्य विभाग को भेजी गई। खाद्य विभाग ने उस पर लिख दिया कि इस फाइल से कितना अनाज पैदा होना है और उसे अर्थ विभाग को भेज दिया।

अर्थ विभाग में फाइल के साथ नोट नत्थी किए गए और उसे कृषि विभाग में भेज दिया गया।

कृषि विभाग में उसमें बीज और खाद डाल दिए गए और उसे बिजली विभाग को भेज दिया गया।

बिजली विभाग ने उसमें बिजली लगाई और उसे सिंचाई विभाग को भेज दिया गया।

सिंचाई विभाग में फाइल पर पानी डाला गया।

अब वह फाइल गृह विभाग को भेज दी गई। गृह विभाग ने उसे एक सिपाही को सौंपा और पुलिस की निगरानी में वह फाइल राजधानी से लेकर तहसील तक के दफ्तरों में ले जाई गई। हर दफ्तर में फाइल की आरती करके उसे दूसरे दफ्तर में भेज दिया जाता।

जब फाइल सब दफ्तर घूम चुकी तब उसे पकी जानकर फूड कार्पोरेशन के दफ्तर में भेज दिया गया और उस पर लिख दिया गया कि इसकी फसल काट ली जाए। इस तरह दस लाख एकड़ कागज की फाइलों की फसल पककर फूड कार्पोरेशन के पास पहुँच गई।

एक दिन एक किसान सरकार से मिला और उसने कहा—"हुजूर, हम किसानों को आप जमीन, पानी और बीज दिला दीजिए और अपने अफसरों से

हमारी रक्षा कर लीजिए, तो हम देश के लिए पूरा अनाज पैदा कर देंगे।"

सरकारी प्रवक्ता ने जवाब दिया—"अन्न की पैदावार के लिए किसान की अब जरूरत नहीं है। हम दस लाख एकड़ कागज पर अन्न पैदा कर रहे हैं।"

कुछ दिनों बाद सरकार ने बयान दिया—"इस साल तो सम्भव नहीं हो सका, पर आगामी साल हम जरूर खाद्य में आत्म-निर्भर हो जाएँगे।"

और उसी दिन बीस लाख एकड़ कागज का ऑर्डर और दे दिया गया। ●

# रोटी

प्रजातन्त्र के राजा ने जहाँगीर की तरह अपने महल के सामने एक जंजीर लटका रखी थी। घोषणा करवा दी थी कि जिसे फरियाद करनी हो, वह जंजीर खींचे; राजा साहब खुद फरियाद सुनेंगे।

एक दिन अत्यन्त दुबला, कमजोर आदमी लड़खड़ाता वहाँ आया और उसने निर्बल हाथों से जंजीर खींची। प्रजातन्त्र का राजा तुरन्त महल की बालकनी पर आया और बोला, "फरियादी, क्या चाहते हो?"

फरियादी बोला, "राजा, तेरे राज में हम भूखे मर रहे हैं। हमें अन्न का दाना नहीं मिलता। मुझे रोटी चाहिए। मैंने कई दिनों से अन्न नहीं खाया। मैं रोटी माँगने आया हूँ।"

राजा ने बड़ी सहानुभूति से कहा, "भाई, तेरे दुःख से मेरा हृदय द्रवित हो गया है। मैं तेरी रोटी की समस्या पर आज ही एक उपसमिति बिठाता हूँ। पर तुझसे मेरी एक प्रार्थना है—उपसमिति की रिपोर्ट प्रकाशित होने के पहले तू मरना मत।" ●

# अनुशासन

एक अध्यापक था। वह सरकारी नौकरी में था। मास्टर की पत्नी बीमार थी। अस्पताल में थी। तभी उसके तबादले का ऑर्डर हो गया। शिक्षा विभाग के बड़े साहब उसी मुहल्ले में रहते थे। उनका बंगला मास्टर के घर से दिखता था। वह उनके बंगले के सामने से निकलता तो उन्हें सादर 'नमस्ते' कर लेता। मास्टर ने सोचा, साहब से कहूँ तो वे फिलहाल मेरा तबादला रोक देंगे।

वह साहब के घर गया। बरामदे में बड़े साहब ने पूछा, "क्यों? क्या बात है?"

"साहब, एक प्रार्थना है।"

"बोलो।"

"मेरी पत्नी अस्पताल में भर्ती है। वह बहुत बीमार है।"

"तो?"

"मेरा तबादले का ऑर्डर हो गया है।"

"तो?"

"सर, कृपा कर फिलहाल मेरा तबादला कैंसिल कर दें।"

साहब नाराज हुए। बोले, "तुम्हें अनुशासन के नियम मालूम हैं? तुम सीधे मुझसे मिलने क्यों आ गए? तुम्हें आवेदन करना चाहिए 'थ्रू प्रॉपर चेनल।' तुम्हें अपने हेडमास्टर की लिखित अनुमति के साथ मुझसे मिलना चाहिए। जाओ, तबादला कैंसिल नहीं होगा। तुम्हें अनुशासन भंग करने के लिए डाँट भी पड़ेगी।"

मास्टर को डाँट पड़ी। आइन्दा साहब से सीधे नहीं मिलने की चेतावनी मिली। मास्टर ने दो महीने की छुट्टी ले ली।

एक शाम साहब के घर में आग लग गई। आसपास के लोग आग बुझा रहे थे।

मास्टर बरामदे में खड़े हुए देख रहे थे। आग बुझ गई। अधिक नुकसान नहीं हुआ।

दूसरे दिन मास्टर निकले तो साहब फाटक पर खड़े थे। साहब ने कहा, "मास्टर साहब, कल शाम को मेरे घर में आग लगी थी तो तुम खड़े-खड़े देखते रहे। बुझाने नहीं आए।"

मास्टर ने नम्रता से कहा, "सर, मैं मजबूर था। हेडमास्टर साहब बाहर गए हैं। उनकी लिखित अनुमति के बिना कैसे आता? आपकी आग बुझाने के लिए 'थ्रू प्रॉपर चेनल' आना चाहिए न!" ●

# देव-भक्ति

एक शहर की बात है। शहर में गणेशोत्सव बड़ी धूम से मनाया जाता है। प्रथा कुछ ऐसी चल गई है कि हर जाति के लोग अपने अलग गणेशजी रखते हैं। इस तरह ब्राह्मणों के अलग गणेश होते हैं, अग्रवालों के अलग, तेलियों के अलग, कुम्हारों के अलग। पच्चीस-तीस तरह के गणेशोत्सव होते हैं, और नौ-दस दिनों तक खूब भजन-कीर्तन, पूजा-स्तुति, आरती, गायन-वादन होते हैं। आखिरी दिन गणेश-विसर्जन के लिए जो जुलूस निकलता है, उसमें सबसे आगे ब्राह्मणों के गणेशजी होते हैं।

इस साल ब्राह्मणों के गणेशजी का रथ उठने में जरा देर हो गई। इसलिए तेलियों के गणेशजी आगे हो गए।

जब यह बात ब्राह्मणों को मालूम हुई, तो वे बड़े क्रोधित हुए। बोले, “तेलियों के गणेश की ‘ऐसी-तैसी’। हमारा गणेश आगे जाएगा।” ●

# प्रथम स्मगलर

लक्ष्मण मेघनाद की शक्ति से घायल पड़े थे। हनुमान उनकी रक्षा के लिए हिमाचल प्रदेश से संजीवनी नामक दवा लेकर लौट रहे थे कि अयोध्या के नाके पर पकड़ लिए गए। पकड़नेवाले नाकेदार को हनुमान ने पीटकर लिटा दिया। राजधानी में हल्ला मच गया कि बड़ा बलशाली 'स्मगलर' आया हुआ है। पूरी फोर्स भी उसका मुकाबला नहीं कर पा रही।

आखिर भरत और शत्रुघ्न आए। हनुमान अपने आराध्य रामचन्द्र के भाइयों को देखकर दब गए।

शत्रुघ्न ने कहा, "इन स्मगलरों के मारे नाक में दम है। भैया, आप तो संन्यास लेकर बैठ गए हैं। मुझे भुगतना पड़ता है।"

भरत ने हनुमान से पूछा, "कहाँ से आ रहे हो?"

हनुमान—"हिमाचल प्रदेश से।"

भरत—"क्या है तुम्हारे पास? सोने के बिस्कुट, गाँजा, अफीम?"

हनुमान—"दवा है।"

शत्रुघ्न ने कहा, "अच्छा दवाइयों की स्मगलिंग चल रही है! निकालो, कहाँ है।"

हनुमानजी ने संजीवनी निकालकर रख दी। कहा, "मुझे आपके बड़े भाई रामचन्द्र ने इस दवा को लेने के लिए भेजा था।"

शत्रुघ्न ने भरत की तरफ देखा, बोले, "बड़े भैया यह क्या करने लगे हैं। स्मगलिंग में लग गए हैं। पैसे की तंगी थी तो हमसे मँगा लेते। स्मगलिंग के धन्धे में क्यों फँसते हैं। इससे बड़ी बदनामी होती है।"

भरत ने हनुमान से पूछा, "यह दवा कहाँ ले जा रहे थे? कहाँ बेचोगे इसे?"

हनुमान ने कहा, "लंका ले जा रहा था।"

भरत ने कहा, "अच्छा, वहाँ उत्तर भारत का स्मगल किया हुआ माल बिकता है। कौन खरीदते हैं? रावण के लोग।"

हनुमान ने कहा, "यह दवा तो मैं राम के लिए ही ले जा रहा था। बात यह

है कि आपके भाई लक्ष्मण घायल पड़े हैं। वे मरणासन्न हैं। इस दवा के बिना वे बच नहीं सकते।"

भरत और शत्रुघ्न ने एक-दूसरे की तरफ देखा। तब तक रजिस्टर में स्मगलिंग का मामला दर्ज हो चुका था।

शत्रुघ्न ने कहा, "भरत भैया, आप ज्ञानी हैं। इस मामले में नीति क्या कहती है? शासन का क्या कर्तव्य है?"

भरत ने कहा, "स्मगलिंग तो अनैतिक है। पर स्मगल किए हुए सामान से अपना या अपने भाई-भतीजे का फायदा होता है, तो यह काम नैतिक हो जाता है। जाओ हनुमान, ले जाओ दवा।"

मुंशी से कहा, "रजिस्टर का पन्ना फाड़ दो।" ●

# बदचलन

एक बाड़ा था। बाड़े में तेरह किराएदार रहते थे। मकान-मालिक चौधरी साहब पास ही एक बंगले मे रहते थे।

एक नए किराएदार आए। वे डिप्टी कलेक्टर थे। उनके आते ही उनका इतिहास भी मुहल्ले में आ गया था। वे इसके पहले ग्वालियर में थे। वहाँ दफ्तर की लेडी टाइपिस्ट को लेकर कुछ मामला हुआ था। वे साल-भर सस्पैण्ड रहे थे। यह मामला अखबार में भी छपा था। मामला रफा-दफा हो गया और उनका तबादला इस शहर में हो गया।

डिप्टी साहब के इस मकान में आने के पहले ही उनके विभाग का एक आदमी मुहल्ले में आकर कह गया था कि यह बहुत बदचलन, चरित्रहीन आदमी है। जहाँ रहा, वहीं इसने बदमाशी की। यह बात सारे तेरह किराएदारों में फैल गई।

किराएदार आपस में कहते—यह शरीफ आदमियों का मुहल्ला है। यहाँ ऐसा आदमी रहने आ रहा है। चौधरी साहब ने इस आदमी को मकान देकर अच्छा नहीं किया।

कोई कहते—बहू-बेटियाँ सबके घर में हैं। यहाँ ऐसा दुराचारी आदमी रहने आ रहा है। भला शरीफ आदमी यहाँ कैसे रहेंगे।

डिप्टी साहब को मालूम था कि मेरे बारे में खबर इधर पहुँच चुकी है। वे यह भी जानते थे कि यहाँ सब लोग मुझसे नफरत करते हैं। मुझे बदमाश मानते हैं। वे खुद इस माहौल में अड़चन महसूस करते थे। वे हीनता की भावना से ग्रस्त थे। नीचा सिर किए आते-जाते थे। किसी से उनकी दुआ-सलाम नहीं होती थी।

इधर मुहल्ले के लोग आपस में कहते थे—शरीफों के मुहल्ले में यह बदचलन आ बसा है।

डिप्टी साहब का सिर्फ मुझसे बोलचाल का सम्बन्ध स्थापित हो गया था। मेरा परिवार नहीं था। मैं अकेला रहता था। डिप्टी साहब कभी-कभी मेरे पास आकर बैठ जाते। वे अकेले रहते थे। परिवार नहीं लाए थे।

एक दिन उन्होंने मुझसे कहा, "ये जो मिस्टर दास हैं, ये रेलवे के दूसरे पुल

के पास एक औरत के पास जाते हैं। बहुत बदचलन औरत है।"

दूसरे दिन मैंने देखा, उनकी गरदन थोड़ी-सी उठी है।

मुहल्ले के लोग आपस में कहते थे—शरीफों के मुहल्ले में यह बदचलन आ गया।

दो-तीन दिन बाद डिप्टी साहब ने मुझसे कहा, "ये जो मिसेज चोपड़ा हैं, इनका इतिहास आपको मालूम है? जानते हैं, इनकी शादी कैसे हुई? तीन आदमी इनसे फँसे थे। इनका पेट फूल गया। बाकी दो शादीशुदा थे। चोपड़ा को इनसे शादी करनी पड़ी।"

दूसरे दिन डिप्टी साहब का सिर थोड़ा और ऊँचा हो गया।

मुहल्लेवाले अभी भी कह रहे थे—शरीफों के मुहल्ले में कैसा बदचलन आदमी आ बसा।

तीन-चार दिन बाद फिर डिप्टी साहब ने कहा, "श्रीवास्तव साहब की लड़की बहुत बिगड़ गई है। ग्रीन होटल में पकड़ी गई थी एक आदमी के साथ।"

डिप्टी साहब का सिर और ऊँचा हुआ।

मुहल्लेवाले अभी भी कह रहे थे—शरीफों के मुहल्ले में यह बदचलन कहाँ से आ गया।

तीन-चार दिन बाद डिप्टी साहब ने कहा, "ये जो पाण्डे साहब हैं, अपने बड़े भाई की बीवी से फँसे हैं। सिविल लाइन्स में रहता है इनका बड़ा भाई।"

डिप्टी साहब का सिर और ऊँचा हो चुका था।

मुहल्ले के लोग अभी भी कहते थे—शरीफों के मुहल्ले में यह बदचलन कहाँ से आ गया।

डिप्टी साहब ने मुहल्ले में लगभग हर एक के बारे में कुछ पता लगा लिया था। मैं नहीं कह सकता, यह सब सच था या उनका गढ़ा हुआ। आदमी वे उस्ताद थे। ऊँचे कलाकार। हर बार जब वे किसी की बदचलनी की खबर देते, उनका सिर और ऊँचा हो जाता।

अब डिप्टी साहब का सिर पूरा तन गया था। चाल में अकड़ आ गई थी। लोगों से दुआ-सलाम होने लगी थी। कुछ बात भी कर लेते थे।

एक दिन मैंने कहा, "बीवी-बच्चों को ले आइए न। अकेले तो तकलीफ होती होगी।"

डिप्टी साहब ने कहा, "अरे साहब, शरीफों के मुहल्ले में मकान मिले तभी तो लाऊँगा बीवी-बच्चों को।" ●

# बात

उस दिन सुबह रमेश मिले। कहने लगे, "एक बात तुम्हें बतलानी है। लेकिन अभी उसे अपने पास तक ही रखना। मेरे सिवाय किसी को मालूम नहीं है। देखो, हमारे साथ जो वर्माजी काम करते हैं, वे बम्बई गए हैं। उन्हें बम्बई में ही अच्छी जगह मिल गई है। अब वे लौटेंगे नहीं। तुम उनकी जगह के लिए दरखास्त दे दो। अभी किसी से कहना मत!"

दोपहर को दिनेश मिले। कहने लगे, "एक बात सुनो! तुम तक ही सीमित रहे। अभी मुझे ही मालूम हुई है। वर्मा ने बम्बई में नौकरी कर ली है। तुम उस जगह के लिए फौरन अर्जी दे दो।"

शाम को कमलेश मिले। कहने लगे, "एक बात कान्फिडेन्स में कहनी है। देखो कहीं बाहर न जाय। मुझे ही मालूम हुई है। वे जो वर्माजी हैं न, हमारे साथ—वे बम्बई में ही अब नौकरी करेंगे। तुम फौरन उस जगह के लिए कोशिश करो।"

दूसरे दिन सुबह रामलाल मिले। बोले, "भाई, वर्मावाली जगह के लिए क्यों नहीं कोशिश करते?"

मैंने पूछा, "तुमसे किसने कहा कि वह जगह खाली है?"

रामलाल बोले, "दिनेश ने।"

दोपहर को श्यामलाल मिले। कहने लगे, "वर्मा तो अब आएँगे नहीं। तुम जाओ वहाँ।"

मैंने पूछा, "तुमसे किसने कहा?"

वे बोले, "रमेश ने।"

शाम को मोहनलाल मिले। पूछा, "तुमने वर्मावाली जगह के लिए दरखास्त दी कि नहीं? तुम भी बड़े लापरवाह हो।"

मैंने पूछा, "तुमने कैसे जाना कि वर्मा नहीं आएँगे?"

वे बोले, "कमलेश ने बतलाया।"

दो दिन बाद वर्माजी आ गए। एकदम मेरे घर आए। आते ही बरस पड़े,

"अरे भाई, अगर ऐसा ही था तो मुझसे कह देते, मैं इस्तीफा दे देता। इस तरह आखिर क्यों भगाना चाहते हो? यह भी क्या बात है? जरा पीठ फिरी कि आपने छुरी भोंक दी।"

मैंने कहा, "आखिर हो क्या गया?"

वर्माजी बोले, "मेरी जगह के लिए आपकी अर्जी मैंने देखी है आज दफ्तर में! आखिर तुमसे कहा किसने कि मैं नौकरी छोड़ रहा हूँ?"

इसी समय रमेश, दिनेश व कमलेश घूमते-घामते मेरे घर आ पहुँचे। वर्माजी के कुशल-समाचार आदि पूछने लगे। बात का तार टूट गया। थोड़ी देर बाद फिर उन्होंने पूछा, "हाँ, तुमने यह नहीं बतलाया कि तुमने कैसे जाना कि मैं नौकरी छोड़ रहा हूँ?"

मैंने कह दिया, "दिनेश, रमेश तथा कमलेश बैठे हैं—इन्होंने ही कहा था।"

वर्मा ने कहा, "क्यों यारो, ऐसी अफवाह तुमने क्यों उड़ा दी?"

और वे तीनों एक स्वर से बोले, "हम क्यों उड़ाएँगे? सारे शहर में तो बात फैल रही है।" ●

# पड़ताल

# अयोध्या प्रसाद गोयलीय की लघुकथाएँ : साँस लेती हुई भलमनसाहत

डॉ. बलवेन्द्र सिंह

उपलब्ध जानकारी के अनुसार अयोध्या प्रसाद गोयलीय के दो लघुकथा-संग्रह भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित किए गए हैं। सन् 1953 में प्रकाशित 'गहरे पानी पैठ' तथा सन् 1955 में प्रकाशित 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' संग्रह के सम्बन्ध में डॉ. अशोक भाटिया द्वारा सम्पादित 'नींव के नायक' शीर्षक पुस्तक से कुछ सूत्र अवश्य मिले हैं।

अयोध्या प्रसाद गोयलीय की समीक्ष्य लघुकथाओं का पाठ करने पर ज्ञात होता है कि वैचारिक मतभेद के बावजूद गोयलीय के यहाँ 'इन्सानियत' की गुंजाइश बाकी है। इधर, दिल्ली म्युनिसिपेलिटी के चुनावों में एक-दूसरे के जानी दुश्मन राजनेता हैं। ध्यातव्य है कि इनमें इतनी विवेकशीलता अवश्य है कि विरोधी नेता की बिटिया के रिश्ते से पहले वे लड़केवालों से उन नेताजी तथा उनकी बिटिया की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं। राजनेता के लिए उस स्थिति में यह रिश्ता तुड़वा देना सरल-सा कार्य होता; परन्तु राजनीतिक विरोध के चलते भी वह मानवोचित व्यवहार का परिचय देते हुए रिश्ता जुड़वाने का प्रयास करता है। ऐसी सकारात्मक सोच किसी भी समाज के लिए संजीवनी का कार्य करती है। वर्तमान में इन्सानी रिश्तों के मध्य भोंथरा चुकी संवेदना को देखते हुए यह लघुकथा और भी प्रासंगिक हो जाती है।

गोयलीय की लघुकथाओं में निहित भलमनसाहत का अवलोकन 'हृदय परिवर्तन' के द्वारा भी किया जा सकता है। यहाँ दर-दर भीख माँगते हुए दुत्कारा जानेवाला भिखारी एक पुलिसकर्मी के घर इसलिए भोजन नहीं करता; क्योंकि वह रिश्वतखोर है। यह घटना पुलिसकर्मी के मन पर गहरा आघात करती है। फलतः वह रिश्वत न लेने का प्रण कर लेता है। ईमानदारी के मार्ग पर चलते हुए उसे जिस

आत्मतोष की प्रतीति होती है, उसके समक्ष सात बादशाहत भी हेच हैं। भले ही आज लघुकथा का पाठ करते हुए पाठक को भिखारी का उपर्युक्त कृत्य अतिरंजनापूर्ण लगे; परन्तु एक रिश्वतखोर पुलिसवाले का 'हृदय परिवर्तन' करवाकर रचना अर्थपूर्ण अवश्य बन गई है।

'शाने-मुफलिसी' शीर्षक रचना लघुकथाकार के यात्रा-अनुभव पर केन्द्रित है। रचनाकार को एक स्वाभिमानी व्यक्ति के साथ यात्रा करने का अवसर मिलता है। यात्रा करते हुए धनाभाव के कारण मद्रास से दिल्ली की तरफ जानेवाली रेलगाड़ी में बैठा यह व्यक्ति लगभग 48 घण्टे भूखा रहता है। जब रचनाकार यात्री की वस्तुस्थिति जान लेता है, तो उसके प्रति सहानुभूति दिखाते हुए एक रुपया उसकी जेब में डाल देता है। स्टेशन पर उतरते हुए रचनाकार को तब सदमा पहुँचता है, जब वही यात्री उसे वह एक रुपया लौटा देता है।

यह घटना उस स्वाभिमानी सहयात्री के 48 घण्टे निराहार रहनेवाले अभूतपूर्व संयम को उद्‍घाटित कर जाती है। इसके समकक्ष रचनाकार द्वारा दिखाई गई सहानुभूति गौण प्रतीत होती है। अपनी रचना में लघुकथाकार इस अर्थ को विन्यस्त करता है कि भले ही वह चपरासी निर्धन था; परन्तु उसका आत्मसंयम प्रशंसनीय है। यह गुण उसके चरित्र को सौम्य बनाता है। कथाकार की दृष्टि में यही 'शाने-मुफलिसी' है, जबकि वर्तमान परिदृश्य में असंयमित होने का परिणाम चतुर्दिक फैले भ्रष्टाचार और अनैतिकता के रूप में देखा जा सकता है।

सन् 1955 में रचित 'इतवारवाले बाबूजी' लघुकथा ने दिल्ली जैसे महानगर में नौकरीपेशा आदमी के बिम्ब को साकार किया है। रोज-बरोज घर से नौकरी पर तथा नौकरी से घर तक खटते-खटते यह आदमी इतवार को ही अपने बच्चों से मिल पाता है। इसी प्रभाववश उसके बच्चे उसे 'इतवारवाले बाबूजी' के रूप में ही जानते हैं। निस्सन्देह, महानगरों में लघुकथावाली स्थिति आम हो चली है। बहुत-से घरों में पिता की पहचान 'सण्डे पापा' बनकर रह गई है। दिन-ब-दिन गहराते इस संकट का निहितार्थ यही है कि महानगर कुछ देने के साथ-साथ हमारी रागात्मिकताओं की शक्ल में बहुत-सा छीन भी लेते हैं; यह समसामयिक विडम्बना है। रचनाकाल के पश्चात् विगत लगभग 60 वर्षों में जिन्दगी पहले से अधिक सान पर चढ़ी है।

अयोध्या प्रसाद की कई लघुकथाओं की भाँति 'नादिहन्द' भी भलमनसाहत की तर्जुमानी करती है। इसके अन्तर्गत एक तरफ तकरीबन 60 साल का मुस्लिम बुड्ढा है; जिसने अब तक लोगों से रुपया उधार लिया-ही-लिया है, पर लौटाया कभी नहीं। दूसरी तरफ भलमनसाहत से पोर-पोर भरा वह व्यक्ति है; जिसने तीन-चार साल पहले उस बुड्ढे को 15 रुपए उधार दिए थे, पर आज तक तगादा नहीं किया

था। फिलवक्त उसकी माँ मृत्युशय्या पर थी। उसके पास माँ की दवाओं व फल आदि के लिए कोई पैसा न बचा था। दयनीय स्थिति यहाँ तक हो गई थी कि कहीं बीमार माँ उसे कोई वस्तु लाने को न कह दे, यह सोच वह माँ की परिचर्या के लिए उसके पास भी नहीं जा रहा था। इस बिन्दु पर आकर लघुकथाकार ने अपने पात्र के सदाशय चरित्र का प्रभाव दिखाया है। उसके अनुसार तीन-चार साल पहले 15 रुपए उधार लेकर जानेवाला वह बुड्ढा आज 16 रुपए लौटाने के लिए इस पात्र के घर पर दस्तक देता है। घोर विपदा के क्षणों में भी गोयलीय का यह कथा-पात्र एक रुपया अधिक लेने से मना कर देता है। फलतः अपनी 60 साल की जिन्दगी में उधार लेकर कभी न लौटानेवाला 'नादिहन्द' मुस्लिम बुड्ढा पैसे लौटाते हुए इस पात्र में निहित सदाशयता की प्रशंसा भी करता है। पात्र की इस चारित्रिक धवलता के फलस्वरूप ही उसे घोर विपदा के क्षणों में अप्रत्याशित सहायता मिलती है। इसमें रचनाकार का यही अर्थ-न्यास है कि यदि मनुष्य अपने जीवन में किसी की निःस्वार्थ भाव से सहायता करता है, तो आपद्काल में उसे इसका सुफल अवश्य मिलता है।

आलोच्य रचनाओं के अन्तर्गत 'सहृदयता का मूल्य' भी ऐसी ही लघुकथा है; जिसमें कपड़ा उधार देनेवाले लालाजी अपने ग्राहक की नौकरी छूट जाने व उसकी पत्नी के बीमार पड़ने जैसी विकट परिस्थितियों में उसके साथ समानानुभूति दिखाते हैं। वे ग्राहक द्वारा अपने गहने गिरवी रखने की प्रस्तुति को नकार देते हैं। परिणामतः, अन्य तकाजगीरों के लिए अविश्वसनीय रहनेवाला वह ग्राहक, लालाजी का उधार चुकता करने के बाद ही मकान बदलने के लिए उद्यत होता है।

ठीक इसी भाँति भलमनसाहत की एक प्रतिच्छवि 'एक वे भी मुसाफिर थे' में से झलक पड़ती है। इसमें भारतीय रेल के कर्मचारी अपने लिए वैध विशेष डिब्बे में रचनाकार को चैन की नींद सोने देते हैं और स्वयं खड़े होकर यात्रा करते हैं। इसी डिब्बे में अन्य कर्मचारी अपने दो सहकर्मियों के साथ एक ही बर्थ में सिकुड़कर लेटा रहता है, पर रचनाकार को पूरी बर्थ पर अकेला ही सोने देता है। कहना उपयुक्त होगा कि कथाकार ने अपने जीवन के प्रेरणाप्रद अनुभव को लघुकथा में ढालकर भलमनसाहत को सहेज लिया है।

मैत्री व्यक्ति में रागात्मिकता का संचार करती है, अतः अपने मित्र के लिए सदिच्छा रखना सामान्य बात है। अयोध्या प्रसाद ने 'मित्र के लिए' रचते हुए अपने यहाँ इस विचार को स्थान दिया है कि मैत्री में अच्छा-बुरा सब स्वीकार्य है। मैत्री का मर्म जाननेवाला व्यक्ति लघुकथा के साहूकार की तरह आचरण करेगा। मित्र द्वारा किया गया दोषारोपण उसके लिए सदैव क्षम्य होगा। इसके फलस्वरूप ही

मैत्री-सदृश महान् मूल्य की रक्षा सम्भव है।

इन लघुकथाओं के अन्तर्गत 'लातों के भूत' को पढ़ते हुए यह बालकोचित स्वभाववाली जान पड़ती है; परन्तु इसमें गोयलीय का निहितार्थ है कि विनय अथवा दण्ड का विधान सामनेवाले पात्र को देखकर ही किया जाता है। जहाँ बल-प्रयोग आवश्यक हो, वहाँ अनुनय-विनय अनर्गल प्रलाप है।

समीक्ष्य लघुकथाओं में 'गधे का विश्वास' एक प्रहसिका बनकर रह गई है, जबकि 'प्रतिज्ञा न लेने की प्रतिज्ञा' के उद्दण्ड युवा का चातुर्य पिता तथा साधु महाराज, दोनों पर भारी पड़ता है।

एकबारगी इन लघुकथाओं के भाषागत शिल्प पर केन्द्रित होने पर ज्ञात होगा कि प्रथम पुरुष के माध्यम से कही गई इन लघुकथाओं में उर्दू की शब्दावली नियतलय हो गई है। रियाज, तशरीफ, बजा, नालाँ, अर्ज, माजरा, मिजाज, तकल्लुफ, आजिजी, जुल्म, बा-इज्जत, मुफलिसी, अहमक, शाने-मुफलिसी, शाने-हातिमताई, खुशपोशी, जामाजेबी, तारीफ, रिहाइश, तकाजा, वोहतान, मुनासिब, बमुश्किल, तकाजगीरों, खयानत, वालिद, बुजुर्गवार जैसे शब्दों का उपयुक्त प्रयोग करते हुए लघुकथाकार ने अपनी रचनाओं को अधिक सम्प्रेष्य बनाया है। अर्थ-अन्विति के लिए उर्दू शेरों का इस्तेमाल अयोध्या प्रसाद गोयलीय के लघुकथा-शिल्प की विशिष्ट पहचान है। 'शाने-मुफलिसी' के अन्त में वह मिर्जा असदउल्ला खाँ 'गालिब' की मकबूल सतर 'कोई यह बतलाए कि हम बताएँ क्या' का इस्तेमाल करता है, तो 'एक वे भी मुसाफिर थे' के समापन पर हाली के अधोलिखित शेर को जमा देता है—

*'जानवर, आदमी, फरिश्ता, खुदा।*
*आदमी की हैं सैकड़ों किस्में।'*

कहने की आवश्यकता नहीं कि कृतिकार ने अपनी लघुकथाओं के अन्त में इस प्रकार उर्दू शायरों की सतरों को जमाकर अपेक्षित प्रभाव की सृष्टि रची है।

लघुकथाओं की भाषिक-संरचना में मुहावरे स्वयमेव अपनी जगह तलाशते हैं। हमारा लघुकथाकार इस बात को पूरी तरह तस्दीक करता है। उसकी रचनाओं में गधे को गुलकन्द दिखाना, भीख के टूक और बाजार में डकार, अँगूठा दिखाता हुआ-सा, कोल्हू के बैल की तरह, चौपट हो गया, फूटी कौड़ी न रही, ताव आ गया, खाना-पीना सब हराम, कारूँ का खजाना, वोहतान गले मढ़ेगा, जान न पहचान बड़ी बी को सलाम, कफन-खसोट जैसा, अमानत में खयानत, कतरब्योंत, हाथ को हाथ खाने लगा, लातों के भूत बातों से नहीं मानते, हाथ बँटाने लगा जैसे मुहावरेदार

प्रयोग इच्छित अर्थ ध्वनित करते हैं। तथ्यतः ऐसा लघुकथाकार गोयलीय की भाँति भाषा पर अधिकार के फलस्वरूप ही सम्भव हो पाता है।

कहीं-कहीं इन लघुकथाओं के भाषिक-प्रवाह के सामने शीर्षकों की कृत्रिमता अवश्य अखरती है। 'सहृदयता का मूल्य' शीर्षक रचना को उपर्युक्त के प्रमाण-रूप में लिया जा सकता है। उर्दू शब्द के साथ हिन्दी-संस्कृत प्रत्यय (यथा—'लिहाजवश') का संयोजन किंचित् असुविधाजनक लगता है; परन्तु वह भाषा में ऐसा रचा-बसा है कि सम्प्रेष्य को क्षति नहीं पहुँचाता। बहरहाल, थोड़ा रचना-शिल्प के अवान्तर बात करें, तो रचनाकार द्वारा लघुकथा के साथ उसका रचनाकाल भी लिखा गया है। इससे एक बात स्वतः सिद्ध होती है कि रचे जाने के लगभग 50-60 वर्ष बाद भी पाठकों के लिए इन लघुकथाओं की उपादेयता बनी हुई है। कहन में सदैव उपस्थित रहनेवाला कथा-तत्त्व पाठक को अपने साथ-साथ लिए चलता है। निश्चयतः, यह लघुकथाकार के अनुभव की प्रगाढ़ता तथा शिल्पगत दक्षता की साक्षी है।

समग्रतः, कहा जाना चाहिए कि लघुकथाकार अयोध्या प्रसाद गोयलीय की रचनाओं के पात्रों में मौजूद भलमनसाहत उनके चरित्र को औदात्यपूर्ण बनाती है। यह भलमनसाहत उनकी अधिकतर रचनाओं को पाठकों में समादृत होने का निमित्त प्रस्तुत करती है। 'इन्सानियत', 'हृदय परिवर्तन', 'शाने-मुफलिसी', 'नादिहन्द' 'सहृदयता का मूल्य' सरीखी लघुकथाएँ इस बात का स्वतः प्रमाण बनती हैं। स्पष्टतः, छल-छद्म की धक्कमपेल से पूरित वर्तमान में ऐसी भलमनसाहत सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होती; परन्तु यह जीवन से असम्पृक्त भी नहीं है। जीवन की समस्त अभिशप्तता के साथ-साथ इन लघुकथाओं की भलमनसाहत को भी साँस लेते चलना है...। ●

सम्पर्क : हिन्दी विभाग
डी.ए.वी. कॉलेज, जालन्धर (पंजाब)-144 008
मो. : 094177 43100
ई-मेल : drbalvendrasingh@gmail.com

# मानवीय संवेदनाओं के लघुकथाकार कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

सुरेश यादव

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' को लघुकथाकार की अपेक्षा एक निबन्धकार के रूप में कहीं अधिक जाना जाता है। मानवतावादी भावनात्मक निबन्ध उनकी गहरी पहचान रेखांकित करते हैं। बहुआयामी प्रतिभा के धनी कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' को हिन्दी रिपोर्ताज का जनक भी कहा जाता है। संस्मरण एवं जीवनी-लेखन पर उनकी लेखनी चली, तो बाल साहित्य भी उनके सृजनकर्म से बाहर न रह सका। 'दूध का तालाब' एवं 'एक मामूली पत्थर' बाल साहित्य के रूप में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अनुभव की व्यापकता के कारण ही उनका लेखन बहुआयामी है।

किसी भी रचनाकार के जीवन पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव तो होता ही है। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का आधा जीवन स्वाधीनता-पूर्व का है और आधा जीवन स्वाधीनता प्राप्ति के बाद का। यह कालखण्ड सम्पूर्ण विश्व के लिए उथल-पुथल एवं महान् घटनाओं से भरा था। इसी कालखण्ड में विश्व इतिहास ने भयंकर करवटें लीं। भारत के लिए तो यह अपने अस्तित्व के लिए ही विकट संघर्ष का समय था। गुलामी की काली रात की यन्त्रणा को सँजोए यह साधक अपने अन्तःसंघर्ष को विचारों और भावों के सहारे अपने जिन संकल्पों को आकार दे रहा था और चाहता था कि आजाद भारत के मानस पर यह संकल्प गहराई से अंकित हो, उनका सम्पूर्ण साहित्य एक सशक्त माध्यम के रूप में इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। उनकी लघुकथाएँ ज्ञान, विचार, नीति, सामाजिक बोध और न्याय स्थापना की भावना से परिपूर्ण थीं और इसी उद्देश्य हेतु सृजित थीं, आखिर अपने राष्ट्रीय और सामाजिक दायित्वबोध से अलग कैसे रह सकती थीं। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने सशक्त लघुकथाएँ रचकर अपने साहित्यिक दायित्व का निर्वहन किया है।

कथा का आकार चाहे लघु हो और वह लघुकथा हो, समूचे आकार की

कहानी हो या फिर इतना विस्तार पा जाए कि उपन्यास का रूप ग्रहण कर ले, कथा-कहानी सभी स्तरों पर व्याप्त होती है। समय और स्थिति के अनुसार शिल्प और शैली अपना अलग-अलग स्वरूप ग्रहण कर कभी 'लघुकथा', कभी 'कहानी' व कभी 'उपन्यास' का रूप ग्रहण करते हैं। कोई भी स्वरूप एक-दूसरे का विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे का पूरक ही होता है। 'लघुकथा' के अलग अस्तित्व को लेकर, उसके समय को लेकर इतिहासकार स्पष्ट रेखा खींचना चाहते हैं, परन्तु क्या हमारे पुराणों में 'उपन्यास', 'कहानियाँ और 'लघुकथाएँ' नहीं बिखरी पड़ी हैं? उपनिषद् जो ज्ञान का अक्षय भण्डार हैं और जीवन का मार्ग प्रशस्त करते हैं, इनमें समाहित 'नीति-कथाएँ' और 'बोध-कथाएँ' क्या आधुनिक लघुकथाओं का रूप ग्रहण नहीं करती हैं? कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की लघुकथाएँ इसका सुन्दर उदाहरण हैं।

सन् 1929 में कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की पहली लघुकथा का सृजन हुआ था, तब से वे निरन्तर लघुकथाएँ लिखते रहे। 1952 में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित उनका पहला लघुकथा-संग्रह 'आकाश के तारे : धरती के फूल' प्रकाशित हुआ। इस संग्रह को महत्त्व के साथ स्वीकार किया गया क्योंकि इनके 22-23 वर्ष के रचना अनुभव के साथ इन लघुकथाओं ने परिपक्वता प्राप्त की थी। वर्ष 1934-35 में उनकी लघुकथाओं के विषय में मुंशी प्रेमचन्द ने कहा था—"यह एक नई कलम है, गद्यकाव्य और कहानी के बीच एक नई पौध, जिसमें गद्यकाव्य का चित्र और कहानी का चरित्र है।" वास्तविकता यह है कि पुराने और शाश्वत विषयों को चुनकर जिन लघुकथाओं की रचना कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने की, उनको नया मुहावरा और धारदार शैली प्रदान की। परिणामस्वरूप नए विचारों की जमीन तलाशती और तराशती ये लघुकथाएँ पुराने संस्कारों तथा नए विचारों के बीच सार्थक पुल बनाती हैं।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' सामाजिक और मानवीय मूल्यों के प्रति गहरी आस्था के रचनाकार माने जाते हैं। कारण यह है कि उनके सामाजिक सरोकार मानवीय पीड़ा के साथ जुड़े हुए हैं। गहन चिन्तन की छाप उनकी लघुकथाओं में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। इसलिए वहाँ विचार तथा घटनाएँ गुम्फित मुद्रा में हैं और पाठक की मनोभूमि पर 'दिशानिर्देश' की तरह अपना स्थान बनाती हैं। गहरी भावुकता की स्थिति में भी अधिकतर लघुकथाएँ 'शिक्षा' देने के दायित्व का निर्वहन करती हैं यानी उनका अन्त मानवीय और सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति करता है। 'नन्दन' के घर पर डकैत धावा बोलते हैं और नन्दन डरकर सारा कीमती माल छुपा देता है और स्वयं घर में ही गड्ढा खोदकर बैठ जाता है। ऊपर से टोकरी रख

लेता है। डकैतों के चले जाने के बाद भी कई दिनों तक वह वहीं बैठा रहता है और लोगों के समझाने पर भी बाहर नहीं निकलता। सिर हिलाता और कहता है, "जिस पद्धति ने मेरे प्राण बचाए, धन-सम्पदा की रक्षा की, उसका त्याग भला मैं कैसे कर सकता हूँ?"

यह देखने-सुनने में भले ही स्वाभाविक न लगे परन्तु ऐसी कृतज्ञता का ज्ञापन एक गहन आस्था और विश्वास के मूल्य के प्रति छिपा हुआ उपदेश है। मन में उपजे विचार-स्थापना की ललक इनकी लघुकथाओं में प्रबल रूप में मिलती है। 'आकाशवाणी' लघुकथा इसका उदाहरण है। युवा बेटे और वृद्ध पिता के रिश्ते के बीच का 'सम्मान' भले ही तार-तार हो गया हो, परन्तु इस विचार की स्थापना पूरी दृढ़ता से हुई है कि जीवन में अनुभव और उमंग दोनों का अलग-अलग जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक महत्त्व उनके बीच सन्तुलन-स्थापना का है। 'साँप' और 'दीमक' भले ही मनुष्य की भाषा न बोलते हों, परन्तु मनुष्य द्वारा भयवश शैतान की पूजा (संसार की साक्षी) ऐसा सत्य है जिसका सफल अहसास कराना ही इस लघुकथा का उद्देश्य है।

आजादी की अँगड़ाई लेकर उठा भारतीय समाज अपने दिवास्वप्नों में अपनी मर्यादाओं, परम्पराओं और अपनी सम्यता-संस्कृति को मानव-मूल्यों से परिपूर्ण आदर्श रूप में पाना चाहता था। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की लघुकथाएँ उस प्रयास में मानव-मूल्यों की गहरी पड़ताल करती हुई इस वैशिष्ट्य को रेखांकित करती हैं। 'असफलता', 'मध्यस्थ', 'वे दोनों', 'सुराही और प्रतिमा', 'एक प्रश्न', 'इंजीनियर की कोठी' आदि बहुत-सी लघुकथाएँ हैं, जो इस मापदण्ड पर खरी उतरती हैं। मनुष्य के भीतर सदियों से उसकी चेतना में बैठे शाश्वत विचार, जो निरन्तर मन्थन की प्रक्रिया में रहे हैं, उसी के परिणामस्वरूप विभिन्न रूपों में साहित्य के मोती बिखरे पड़े हैं। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की लघुकथाएँ ऐसे ही शाश्वत प्रश्नों से जूझने का परिणाम हैं।

लेखक की पैनी सामाजिक दृष्टि संवेदना की गहरी परतों को उधेड़कर सत्यता की तह तक जाकर सटीक चोट करती है। यह चोट मानवता के हक में लड़ने की आतुरता जगाती है। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की लघुकथाएँ इस दिशा में सार्थक पहल के रूप में हमारे सामने हैं। 'तीन गुच्छियाँ', 'नन्दा', 'भिखारी' आदि लघुकथाएँ इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। अपने समकालीन परिवेश में व्याप्त सामाजिक विषमता, धार्मिक ढोंग, अमानवीय विषमताएँ भी लेखक के निशाने पर रही हैं। सोच के धरातल पर नई जमीन तलाशतीं और तोड़तीं इनकी लघुकथाएँ वास्तव में इस दिशा में बेबाक अभिव्यक्ति के रूप में विद्यमान हैं।

'किसके चरणों में', 'प्रश्नोत्तर', 'संसार की साक्षी' आदि कई लघुकथाएँ हैं, जो गहरे सामाजिक सरोकारों के साथ यथार्थ की जमीन पर उतरती हैं।

लघुकथा के सन्दर्भ में भाषा और शिल्प का महत्त्व कहीं अधिक बढ़ जाता है। बहुत कम शब्दों में अपनी बात कहने की चुनौती शिल्प को तराशती है, और भाषा संयम का पथ प्रशस्त करती है। लघुकथा में भाषा की शिथिलता और शिल्प का ढीलापन स्वीकार्य नहीं होता है। इस कसौटी पर कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की लघुकथाएँ खरी उतरती हैं। भाषा का ठेठ देशी अन्दाज पात्रों को सहजता और स्वीकार्यता प्रदान करता है, वहीं नपे-तुले शब्दों में बात कहने का अन्दाज ऐसी शैली में ढालता है, जो लघुकथा के सर्वथा अनुकूल होती है। सहज और स्वाभाविक गति से बढ़ती हुई लघुकथाएँ जिस वैचारिक परिणति तक पाठक को पहुँचाती हैं शैली का यही वैशिष्ट्य इनकी लघुकथाओं की पहचान रेखांकित करता है। जिस प्रकार अपने तरकश में सीमित तीरों को लेकर युद्ध के मैदान में कोई योद्धा सटीक निशाने के लिए चिन्तित होता है, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की लघुकथाओं में शब्दों की मितव्ययता इसी कौशल को दर्शाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मिश्रजी की लघुकथाएँ सामाजिक चेतना और मानवीय संवेदना से भरपूर हैं, अतः पाठक के मन पर गहरा असर डालती हैं और चेतना के धरातल पर मानवीयता और न्याय के पक्ष में सार्थक तथा प्रभावकारी दृष्टिकोण के निर्माण की पहल करती हैं। अधिकतर लघुकथाएँ अपने उद्देश्य में सफल हैं, सार्थक हैं और इसलिए अपने समय की महत्त्वपूर्ण लघुकथाएँ हैं। इन लघुकथाओं की अनदेखी करके लघुकथा के इतिहास को न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता है। ●

सम्पर्क : 2/1, एम.सी.डी. फ्लैट्स, साउथ एक्सटेंशन,
नई दिल्ली-110 049
मो. : 097177 50218, 098180 32913
ई-मेल : sureshyadav55@gmail.com

# मानव-मन को उद्‌घाटित करतीं आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र की लघुकथाएँ

डॉ. ओम प्रकाश 'करुणेश'

आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र 20वीं सदी के प्रारम्भ से ही हिन्दी लघुकथा-लेखन के जरिए अपने वक्त में जी रहे मनुष्य के भावोद्वेगों को अभिव्यक्ति देते रहे। इनकी रचनाधर्मिता के बारे में कोई उल्लेखनीय चर्चा-परिचर्चा नहीं मिलती लेकिन इनकी लघुकथाओं से इनकी लेखन-क्षमता के मारक प्रभाव, मनुष्य के जीवन की भीतरी तहों की उद्‌घाटक शक्ति, वैचारिकता, आदर्श और यथार्थ के बेहतर कथनों की तारतम्यता नजर आती है। हिन्दी साहित्य का तत्कालीन इतिहास चाहे इनके लेखन को हाशिए पर रखता हो किन्तु इनकी उपस्थिति अवश्य दर्ज होगी क्योंकि इनकी लघुकथाएँ खुद बोलती हैं।

इनकी लघुकथाएँ 'इन्सटेण्ट' नहीं बल्कि 'कम्पेक्ट' हैं। विषयवस्तु की अद्‌भुत वर्णन-शक्ति और शिल्प की सादगी अपना एक ऐसा 'इम्पेक्ट' छोड़ती है कि सरल-सा दिखनेवाला ऊपरी यथार्थ 'वक्रोक्ति' लगने लगता है। आज के दौर में जहाँ कहानी में वैचारिकता और शिल्प की जटिलता हावी है, मिश्रजी की लघुकथाएँ अपने कथारस में एक स्थैतिक गत्यात्मकता के साथ पाठक में 'करण्ट' दौड़ाने की क्षमता रखती हैं। लघुकथा के प्रारम्भ से अन्त तक लघुकथा अपने कहानीपन को बरकरार रखती हुई व्यापक प्रभाव छोड़ती नजर आती है और लगता है, लेखक अपने मकसद में कामयाब हो गया है। इनकी लघुकथाएँ महज घटनाओं व स्थितियों का बयान नहीं करतीं अपितु मनुष्य-मन की गुह्यतम स्थितियों को उद्‌घाटित करती हैं। लेखक यह कार्य मात्र भावावेग से नहीं करता अपितु अत्यन्त सजग ढंग से करता है। कहानी के पात्रों के बीच से गुजरते हुए उनकी दुविधाओं, द्वन्द्वों, उधेड़बुनों को जिस कदर लेखक थोड़े-से 'स्पेस' में खोलने की कुव्वत रखता है, वह बहुत कम लेखकों में उपलब्ध है। इन्हीं मायनों में मिश्रजी प्रतिभावान् लेखक हैं।

'दो फोन : दो अदालतें' लघुकथा ऊपरी तौर पर माधुरी की उस मनोदशा को खोलनेवाली लघुकथा लगती है कि एक बेटी (माधुरी) अपनी माँ (सुशीला) से अपना प्रेम बहुत ही चालाकी से छिपा लेती है लेकिन फोन घुमाकर वह अपने अहसास को जिस कदर लुका-छिपा लेती है, उससे पाठक को उस पर 'खीझ' नहीं उठती बल्कि एक 'रीझ' और 'मुग्धता' का भाव उमड़ने लगता है। फोन पर अपने प्रेमी को वह कहती है—"...दुनिया में अकेले दिमाग की ही तो आदमी को भूख नहीं होती, डॉक्टर! दिल की भी तो भूख होती है।" माधुरी अपने दिल की भूख फोन से बातचीत द्वारा शान्त करती है तो माँ सुशीला उसे फोन के बारे में पूछती है तो घबराई हुई माधुरी के मुँह से बरबस ही निकल जाता है—'कोर्ट से पापा बोल रहे थे।' तभी माँ से आँख चुराकर वह अदालत में पापा को फोन करके कह देती है कि आज 'लंच' में नौकर दही लगाना भूल गए थे जिस पर कोर्ट में 'पापा' अपने नौकरों को अपनी कोर्ट में पेश करते हैं, डाँट पिलाते हैं, उधर 'माँ' की कोर्ट में लड़की। इस प्रकार दो स्थितियों से चित्रित मानवीय संवेदना का यह गहरा चित्र है। सम्बन्धों पर इनकी लघुकथाएँ प्रगतिशील सोच की कहानी कहती हैं। 'पुष्टई की दवा' में रजनी अपने उम्रदराज पति से असन्तुष्ट है और वह अपने प्रेमी रामकिशोर से सम्बन्ध बनाकर अपनी इच्छाओं का विरेचन करती है एवं पति को नींद की गोलियों को ताकत की दवा बताकर कैसे प्रताड़ना से बचती है, ऐसी स्थितियों का रोचक वर्णन है। 'आतिथ्य-लाभ' में प्रबोध का मित्र जनक सुधा (प्रबोध की बहन) के प्रति अपने मनोभाव प्रकट करता है और वह अपनी नैसर्गिक लज्जा-संकोच के भाव प्रकट करती है—इसका सहज और संवेदनशील चित्रण अत्यन्त सादगी से कम शब्दों में करना जटिल कार्य है। 'भाई-भाई' लघुकथा में एक चोर घर की भौतिक वस्तुएँ लूटकर चोरी कर ले जाता है और दूसरा घर में 'स्त्री-देह' से खेलता है। इन दोनों प्रकार के भागते हुए चोरों को कटु व्यंग्योक्ति से भाई-भाई कहकर मिश्रजी ने बहुत-कुछ कह दिया है—"मित्र! मुझसे भी क्यों डर रहे हो? हम-तुम तो भाई-भाई हैं। यह बात दूसरी है—तुम्हारी चोरी और तरह की है, मेरी चोरी और तरह की है।" अन्तिम वाक्य सोचने को मजबूर करता है—फिर भी जार के पैर रुकते न थे!

मिश्रजी की लघुकथाओं में विषयों की भिन्नताएँ हैं लेकिन इनके भीतर नीतिपरक बोध-कथाएँ अपना एक सन्देश छोड़ती हैं, जो मनुष्य को बेहतरी की ओर ले जाती हैं। मनुष्य-समाज में स्त्री के प्रति बेरुखी, अपमान-तिरस्कार तथा भेदभाव का रवैया काफी समय से व्याप्त है, जिसकी ताब में औरतें अपनी स्वतन्त्रता, निजता और समानता में जी नहीं पातीं और हीनता की शिकार हो जाती

हैं। 'स्त्री-पूजा' लघुकथा की विषयवस्तु का वर्णन बहुत खूबसूरती से स्त्री-दशा और मनोदशा को अंकित करता है। स्त्री महामाया के रूप में पुरुष जाति से अहम् सवाल करती हुई पूछती है—'तेरी स्त्री पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है?' यानी कि उसे बाहर-भीतर जाने और अपने निर्णय लेने की आजादी है, अपनी रुचि के अनुसार वस्त्र-परिधान धारण करने और भोजन ग्रहण करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है? अहंकार और जड़ मर्यादाओं के नाम पर लोकाचार निर्वाह और सामाजिक बन्धनों में जकड़ा मर्द स्त्री को वह आजादी नहीं देता, जिसे वह खुद भोगता है। यह सवाल अत्यन्त सहज भाव से मगर इस लघुकथा में जोरदार तरीके से उठाया गया है।

शोषण-प्रक्रिया का प्रतीकात्मक अन्दाजे-बयाँ 'संसार का नियम' लघुकथा में नजर आता है, शोषक को 'चक्की' और शोषित को 'गेहूँ-चना' के रूप में इस छोटी-सी लघुकथा में व्यंग्यपूर्ण लहजे में बयान किया गया है—

एक चक्की को गेहूँ-चना पीसते देखकर एक दर्शक ने उससे पूछा—"अरे; तू कैसी धूर्त है—दूसरों को पीसती है और अपने आप चीखती है?"

"बन्धु, तू नहीं जानता।" चक्की ने उत्तर दिया, "इस संसार में उसी की पूछ और सुनवाई होती है, जो दूसरों को पीसता भी रहे और अपने आप चीखता भी रहे!"

गरीब आदमी पिसता है, चीखता-चिल्लाता नहीं, मार चुपचाप सहन करता रहता है, उसकी समाज में कौन-सी सुनवाई है! यह दृश्य मनुष्य-समाज को उद्वेलित करता है और व्यवस्था पर सवाल उठाता है। 'गरीबी-अमीरी' लघुकथा में इसी सवाल को प्रकारान्तर से उठाया गया है। गरीबी न मिटनेवाली दारुण कथा है जो सदियों से चली आ रही है, सुख-चैन से रहने नहीं देती। इसके विपरीत अमीरी मौज-मस्ती, प्रमाद, उच्छृंखलता, भ्रष्टाचार, छल-कपट, राग-द्वेष और ऐयाशी-अहंकारी की स्नेहपूर्ण मधुर गाथा है जो सबको भाती है। अमीरी-गरीबी का यह सनातन रूप अभी भी देखने को मिलता है।

मिश्र की लघुकथाओं में कई आदर्श स्थितियों के बीच से मनुष्य के यथार्थ की छोटी-छोटी कहानियाँ उभरती हैं जिनमें वह जीने के लिए संघर्षरत रहता है। सिंह और सिंहनी की पारस्परिक बातचीत के माध्यम से 'राज्याश्रय' में मनुष्यता के छीजने और नैतिक मूल्यों की गिरावट की अत्यन्त कटु व्याख्या है। सिंह शिकार करता है, स्फूर्ति और ऊर्जा से भरा रहता है—सिंहनी अपने सिंह की आभा से आश्वस्त होती है लेकिन एक दिन वह राजा के राजपथ पर सुसज्जित परिधानों और आभूषणों से मदमत्त गजराज को देखकर अपनी स्थिति से निराश हो जाता है और सिंहनी उसे ताड़ जाती है। कारण पूछने पर पता चलता है—"यह राज्याश्रय

भी संसार में कितनी बड़ी चीज है। यह संसार में ढेरों सम्मान देता है; बहुत ऐश्वर्य देता है; संरक्षण देता है; यदि किसी तरह, आज मैं भी सिंह के बदले गजराज होता?" सिंहनी अपने सिंह को प्रताड़ित करते हुए कहती है—"नहीं, नहीं; सिंह के बदले आज गजराज नहीं, तुम राजा के एक श्वान होते।" यह राज्याश्रय में पलनेवाले और दुम हिलानेवाले लोगों की कथा है; सिंह-गर्जना और दहाड़नेवाले शेरों की कथा नहीं है।

आम-सी दिखनेवाली सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों को मिश्र अपनी लघुकथाओं में सहजता, सरलता और सादगी से वर्णित करते चलते हैं। वह बड़े-बड़े मुहावरों, दार्शनिक वाक्यांशों और शब्दावलियों का प्रयोग नहीं करते बल्कि पारस्परिक वार्तालाप शैली का प्रयोग करते हैं। वे कथा-वार्ता की ही लोक-शैलियों का उन्मुक्त प्रयोग करते हैं, चरित्रों का मनोविश्लेषणात्मक प्रयोग भी कभी-कभार आता है। इनकी लघुकथाओं में भाषाई शुद्धता और व्याकरणिक प्रयोग भाषा को विस्फारित नहीं करते, बल्कि संयोजित करते हैं। वर्ण्य-विषय का विस्तार न के बराबर है। वे कथा को उसके वर्ण्य-विषय के अनुरूप चलाते हैं और उसके मुकाम तक पहुँचाकर निष्कर्षात्मक-सी संक्षिप्त टिप्पणी कर जाते हैं। लघुकथाओं के शीर्षक ही पूरी कहानी, घटना व पात्र के चरित्र का आख्यान बन जाते हैं। ऐसे में मिश्रजी अपने समय के महत्त्वपूर्ण लोकाभिव्यंजक कथा-शिल्पी ठहरते हैं। ●

सम्पर्क : छाँव (करुणेश सदन)
1826-2/W-8,
शीला नगर, कुरुक्षेत्र-136 118
मो. : 094673 25581
E-mail : 1956karunesh@gmail.com

# प्रेमचन्द की लघुकथाओं में बहुआयामी यथार्थ

डॉ. राजेन्द्र टोकी

प्रेमचन्द हिन्दी कथा-साहित्य का एक ऐसा नक्षत्र है जिसकी आभा इस युग में भी मन्द नहीं पड़ी है। 'पूस की रात', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'बड़े घर की बेटी', 'सद्‌गति', 'सवा सेर गेहूँ', 'दो बैलों की कथा', 'कफन' जैसी कहानियों और 'गबन', 'रंगभूमि', 'निर्मला' और 'गोदान' जैसे उपन्यासों को जो उदात्तता उन्होंने प्रदान की है, उसका मुकाबला आज भी कोई नहीं कर सकता। आश्चर्य और गर्व इस बात पर किया जा सकता है कि प्रेमचन्द अपने समाज का यथार्थ चित्रण करनेवाले ही नहीं, इन विधाओं को इनका वास्तविक दर्जा प्रदान करनेवाले पहले रचनाकार हैं।

सामाजिक सरोकार प्रेमचन्द के समस्त रचना-संसार की मूल धुरी है। समाज के वैविध्य को चित्रित करने की जो कला प्रेमचन्द को हासिल है, वह सम्भवतः हिन्दी के किसी रचनाकार को प्राप्त नहीं है। प्रेमचन्द का कथा-संसार अत्यन्त व्यापक है—अपने पात्रों को, कथ्य को वह दोहराते-तिहराते नहीं—सम्भवतः इन्हीं सब कारणों से वह आज हिन्दी के सबसे लोकप्रिय और श्रेष्ठ रचनाकार हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों पर जब भी बात हुई है तो उनकी कुछ प्रमुख कहानियों को आधार बनाया जाता रहा है और शुरू की कहानियों को आदर्शवादी या आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहकर उनका मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन किया गया है। ऐसा करते समय प्रेमचन्द की इन लघुकथाओं को नजरअन्दाज कर दिया गया है। ये लघुकथाएँ प्रेमचन्द के सामाजिक सरोकार के साथ-साथ यथार्थवादी दृष्टि और अपनी कथ्यगत वैविध्यता का पता देती हैं। इन लघुकथाओं में प्रेमचन्द का आदर्शवाद एक सिरे से गायब है। इन लघुकथाओं को प्रेमचन्द के अन्तिम दौर की यथार्थवादी कहानियों के मूल आधार के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। 1917 में रचित 'दरवाजा' लघुकथा यथार्थ से कहीं आगे बढ़कर 'फंतासी' का रूप धारण करती है। सम्भवतः यह हिन्दी की पहली 'फंतासी' लघुकथा है। 'दरवाजा'

के माध्यम से एक परिवार के कुछ पक्षों पर प्रकाश डालने के साथ-साथ प्रेमचन्द इसे अत्यन्त व्यापक रूप देते हैं। वे लिखते हैं, "घर महदूद है, बाहर की कोई इन्तिहा नहीं। महदूद (सीमित) और गैरमहदूद (असीमित) के दरमियान रिश्ता-ए-इत्तिसाल (मिलन का सम्बन्ध) हूँ। कतरे को बहर से मिलाना मेरा काम है। मैं एक किश्ती हूँ, फना (मृत्यु) से बका (जीवन) को ले जाने के लिए।" इस प्रकार 'दरवाजा' एक प्रतीक बन जाता है—लौकिक को अलौकिक से मिलानेवाली एक महत्त्वपूर्ण कड़ी। पूरी रचना यहाँ एक नया अर्थ ग्रहण कर लेती है जो प्रेमचन्द की कहानी-कला को एक नया आयाम देता है।

प्रेमचन्द के पास व्यंग्य की सूक्ष्म, मगर पूर्णतया सम्प्रेषणीय क्षमता भी है। 'बाबाजी का भोग', 'गमी', 'राष्ट्र का सेवक' ऐसी ही लघुकथाएँ हैं। ये तीनों लघुकथाएँ केवल व्यंग्य ही नहीं करतीं, समाज की विडम्बना को भी उजागर करती हैं। 'बाबाजी का भोग' में जहाँ रामधन की निर्धनता और साधुओं को अतिथि के रूप में पाने की अन्धी श्रद्धा का यथार्थ है, वहीं साधुओं की निर्ममता या साधु होने के अहंकार का चित्रण भी है। इन्हीं में व्यंग्य निहित है। 'गमी' में भागीरथ के कथन के द्वारा 'गमी' के नए अर्थ व्यंग्य बनकर उभरते हैं। परिवार के बढ़ते जाने का यथार्थ और इस बढ़ते परिवार से कैसे व्यक्ति अपने आनन्द को खोता है इसका वर्णन भी इस रचना में हुआ है। 'राष्ट्र का सेवक' व्यक्ति की कथनी और करनी के अन्तर को स्पष्ट करनेवाली लघुकथा है। कथनी से समाज में सम्मान तो प्राप्त हो जाता है मगर जब उस कथनी को करनी में बदलने का वक्त आता है तब वह मुँह फेर लेता है। लेखक ने निम्न वर्ग के प्रति संस्कारगत भेद-भाव का संकेत भी किया है।

'गुरु-मन्त्र', 'जादू' और 'देवी' लघुकथाएँ व्यक्ति के स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के साथ-साथ उसकी मूल प्रवृत्ति का पता भी देती हैं। पण्डित चिन्तामणि अपने मित्र मोटेराम से गुरु-मन्त्र तो लेते हैं मगर उसके प्रयोग से जो परिणति होती है, उससे उनका मूल स्वभाव प्रकट हो जाता है और अन्ततः वे अपने स्वभावानुसार भजन-मण्डली में भजन गाने लगते हैं। 'देवी' भी 'अनाथ विधवा' और 'गरीबी और बेकसी की जिन्दा तस्वीर' होते हुए भी अपने मूल स्वभाव को नहीं छोड़ती और 'गिरे पड़े नोट' को स्वीकार नहीं करती। 'जादू' में 'नीला और मीना' के संवादों के माध्यम से न केवल दोनों के स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है, अन्ततः दोनों को तीसरे व्यक्ति के यथार्थ का पता भी चल जाता है। 'प्रेम' के मामले में नारी मनोविज्ञान के साथ-साथ 'पुरुष मनोविज्ञान' का भी संकेत-रूप में चित्रण इस लघुकथा में हुआ है। 'बन्द दरवाजा' बाल मनोविज्ञान का

सुन्दर चित्रण करता है। चीजों के प्रति आकर्षण, किसी दूसरी चीज के प्राप्त होने तक ही बच्चे में रहता है। ये सब-कुछ तब तक है जब तक उसका घर उसकी पहुँच में है। 'बन्द दरवाजा' उसके सब आकर्षणों को विकर्षण में बदल देता है।

'दूसरी शादी', 'कश्मीरी सेब' और 'यह भी नशा, वह भी नशा' लघुकथाएँ भी मानव मनोविज्ञान और व्यक्ति के विरोधाभासों का यथार्थ अंकन करती हैं। मध्यवर्गीय परिवारों में दूसरा विवाह सौतेले बच्चे के लिए कष्टदायक है। प्रेमचन्द ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है, "औरत का अपने सौतेले बेटे से प्यार करना एक असम्भव बात है।" इतना ही नहीं, इस कहानी में भी 'कथनी' और 'करनी' का अन्तर विशुद्ध मध्यवर्गीय मानसिकता में, प्रेमचन्द ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, "भावनाओं को व्यावहारिक रूप देने में, चरित्र मजबूत बनाने में, जो कहना उसे करके दिखाने में हममें कितनी कमी है, यह मुझे उस समय मालूम हुआ जबकि छह माह बाद मैंने एक कुँआरी लड़की से शादी कर ली।" इस कहानी में विधवा विवाह की बातें करनेवाला कथानायक है जो कुँआरी लड़की से शादी करता है और मध्य वर्ग में विवाह योग्य लड़की की प्रशंसा में जो कसीदे पढ़े जाते हैं वे सब कितने झूठे हैं इसका भी यथार्थ चित्रण है। 'कश्मीरी सेब' में दुकानदार और ग्राहक के मनोविज्ञान के माध्यम से पुनः प्रेमचन्द ने समाज के यथार्थ को पकड़ा है। "आदमी बेईमानी तभी करता है जब उसे अवसर मिलता है। बेईमानी का अवसर देना, चाहे वह ढीलेपन से हो या सहज विश्वास से, बेईमानी में सहयोग देना है।" यही इस कहानी का मूल कथ्य है। 'यह भी नशा, वह भी नशा' में भी प्रेमचन्द नशा चाहे वह भंग का हो, या शराब का; का विरोध करते हैं। भंग इसलिए स्वीकार्य नहीं है कि उसको धार्मिक पोथियों में उचित बताया गया है कि देवता भी इसे पीते हैं। नशा तो नशा है। वह इसलिए बुरा है कि उसे पीकर 'आदमी की अक्ल खत्म हो जाती है।' लेखक ने राय साहब के माध्यम से वैष्णवों के शराब को छूना पाप समझने और भंग को पवित्र मानने की धार्मिक मान्यता पर तीखा व्यंग्य किया है।

प्रेमचन्द की ये लघुकथाएँ जो 1917 से 1937 तक फैली हुई हैं, उनके सामाजिक सरोकार की यथार्थपरक दृष्टि के साथ-साथ पुख़्ता व्यंग्य की क्षमता का परिचय देती हैं। 'देवी' में जो हल्का आदर्शवाद दिखाई पड़ता भी है, वह आरोपित नहीं है—पात्र के स्वभाव की बुनावट है, इसी को वह प्रकट करना चाहते हैं, न कि आदर्शवादी सन्देश देना चाहते हैं।

जहाँ तक प्रेमचन्द की भाषा और शिल्प का सवाल है सो 'दरवाजा' भाषा के स्तर पर उनके उर्दू कहानीकार होने का प्रमाण देती है। अरबी, फारसी के शब्द प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुए हैं। शेष लघुकथाएँ प्रेमचन्द की उस हिन्दुस्तानी भाषा का

परिचय देती हैं जिसका प्रेमचन्द आजीवन समर्थन करते रहे हैं—ऐसी भाषा जो आम लोगों तक पहुँचे—सरल, सुबोध, सहज और प्रवाहमयी—जिसमें अरबी, फारसी के बहुप्रचलित शब्द प्रयुक्त होकर भाषा का अभिन्न अंग बन जाते हैं।

शिल्प के धरातल पर ये लघुकथाएँ अत्यन्त गठी हुई, नोक-पलक से दुरुस्त हैं। 'दरवाजा' में 'फंतासी' और 'जादू' में संवादात्मक टेकनीक का प्रयोग है तो 'कश्मीरी सेब' में सम्बोधन शैली का। 'बाबाजी का भोग' और 'गुरु-मन्त्र' में सूक्ष्म व्यंग्य को आधार बनाया गया है तो शेष लघुकथाओं में कथात्मकता का दामन थामकर अपनी बात कही गई है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रेमचन्द ने अपनी इन लघुकथाओं में एक ही शिल्प को दोहराया-तिहराया नहीं है। उनकी कहानियों की तरह उनका शिल्प भी वैविध्यपूर्ण है।

एक लघुकथाकार के रूप में भी प्रेमचन्द अपना लोहा मनवा लेते हैं और अशोक भाटिया की इस बात से सहमत होना पड़ता है कि, "प्रेमचन्द की लघुकथाएँ सामाजिक यथार्थ और मनोविज्ञान—दोनों धरातलों पर अपनी श्रेष्ठता की छाप छोड़ती हैं। प्रेमचन्द ने अपनी कथा-रचनाओं के माध्यम से हिन्दी की यथार्थपरक कथा-धारा का निर्माण किया। जहाँ उनकी कहानियों में 1930-31 ई. तक कुछ आदर्शवादी रुझान रहा, वहीं उनकी लघुकथाएँ प्रारम्भ से ही यथार्थपरक धारा का निर्माण करती हैं।" ये लघुकथाएँ बहुआयामी होने के कारण अर्थ के नए धरातल प्राप्त करती दिखाई पड़ती हैं। प्रेमचन्द की इन लघुकथाओं की उपेक्षा करके उनकी कहानी-कला पर बात करना अपनी एकांगिता का परिचय देना है। ●

सम्पर्क : भीष्म प्रकाश पार्क (मेन गेट),
पीर खाना रोड, गोकुलपुरी,
खन्ना, पंजाब-141 401
मो. : 099143 23155
E-mail : rajendertoki@gmail.com

# जीवन-मूल्यों को अधिमान देतीं विष्णु प्रभाकर की लघुकथाएँ

डॉ. सुभाष रस्तोगी

बहुमुखी व्यक्तित्व और बहुआयामी कृतित्व के धनी विष्णु प्रभाकर ने विपुल साहित्य की रचना की, लेकिन वे स्वयं को कथाकार ही मानते हैं और लघुकथा को वे कथा-साहित्य के अन्तर्गत ही परिगणित करते हैं। उनकी पहली कहानी 'दीवाली के दिन' लाहौर के 'हिन्दी मिलाप' में नवम्बर, 1931 के एक रविवारीय अंक में प्रकाशित हुई थी जबकि उन्होंने लघुकथा-लेखन 1939 में प्रारम्भ किया था। इस प्रकार कालानुक्रम की दृष्टि से देखा जाए तो विष्णुजी के कथा-लेखन और लघुकथा-लेखन की शुरुआत बीसवीं सदी के तीसरे दशक में हुई थी। हालाँकि तब तक 'लघुकथा' शब्द प्रचलन में नहीं आया था।

विष्णु प्रभाकर अपने तीसरे लघुकथा-संग्रह 'कौन जीता, कौन हारा' (1989) की भूमिका में लिखते हैं, "जब मैंने लिखना शुरू किया था तो सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, सुदर्शन, माखनलाल चतुर्वेदी, उपेन्द्रनाथ अश्क, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', जगदीशचन्द्र मिश्र, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, रावी और रामनारायण उपाध्याय आदि सर्जक इस विधा में भी सक्रिय थे।" वास्तव में यह हिन्दी लघुकथा के विकास की महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ हैं।

सबसे पहले हम विष्णुजी की रचना-प्रक्रिया उनकी जुबानी ही जानें, "शायद ही कोई रचना मैं एक बैठक में पूरी कर पाया हूँ। कई-कई बैठकों में लिखना पड़ा है। कभी बाहरी दबाव के कारण, कभी भीतरी। अधिकतर मैं बाहरी दबावों से विवश हुआ हूँ और विवशता स्वभाव नहीं है।

कुछ लेखक होते हैं कि वे किसी भी परिस्थिति में परेशान नहीं होते। प्रेमचन्द नहीं होते थे। शरतचन्द्र होते थे। मुझ पर कोई सीधे आक्रमण न करे तो आस-पास के शोर से निस्संग ही रहता हूँ। अभावों के कारण सभी परिस्थितियों में

लिखा है परन्तु फिर भी मेरा यह अनुभव है कि एकान्त पाया जा सके तो अपने से साक्षात्कार करने में सुभीता रहता है। एक बार जब मैं सृजन में डूबा था, एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया था जहाँ मैं और मेरी रचना एकाकार हो गए थे। तभी एक अजनबी बन्धु ने आकर पुकार लिया। हठात् काँप उठा और वह रचना कभी पूरी नहीं हो सकी। जब भी मुझे रात का सन्नाटा और भोर की शान्ति मिली है तो मैंने सदा यही महसूस किया है, काश ये क्षण असीम ही रहते।

...अपने बहुत-से पात्रों के साथ रमा हूँ। बहुत पास से उन्हें देखा है। वैसे-के-वैसे तो वे मेरे रचना-संसार में प्रवेश नहीं पा सके, पर अन्तरंग उनका वही रहा। उसी अन्तरंगता के कारण उन्होंने मेरे रचनाकार को काबू किया।...मेरी पत्नी भी मेरी बहुत-सी रचनाओं में आई है। टुकड़ा-टुकड़ा जोड़ें तो अद्भुत चरित्र जी उठेगा।[1] 'खद्दर की धोती' लघुकथा में गाँव की पैंठ से खद्दर की मोटी धोती लेने की जिद करनेवाला और पिता से गाल पर थप्पड़ खानेवाला बालक मैं स्वयं हूँ।"[2]

हिन्दी के सुप्रतिष्ठित साहित्यकार विष्णु प्रभाकर का मानना है कि लघुकथा पश्चिम से नहीं आई है और न ही यह बीसवीं सदी के आठवें दशक की देन है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि आठवें दशक में इसे नए रूप में प्रस्तुत किया गया। वास्तव में उनका यह मानना है कि लघुकथा किसी-न-किसी रूप में अनादि काल से चली आ रही है। प्राचीन काल में ऋषियों ने कुछ दृष्टान्त लिखे थे। इन दृष्टान्तों से ही लघुकथा का विकास हुआ। जैसे 'सदा सच बोलो' एक वाक्य है। लेकिन सच बोलना है क्या—यह एक दृष्टान्त के माध्यम से अच्छी तरह समझाया जा सकता है। जैसे युधिष्ठिर का एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। इसी प्रकार यदि दृष्टान्तों को आज की भाषा में लिख दिया जाए तो अच्छी लघुकथाएँ बन सकती हैं। लघुकथा का बीजरूप पंचतन्त्र, बोध-कथाओं में मौजूद है। बीज विकसित होने पर रूप तो बदलता ही रहता है। बीज की परिणति बीज है, फल नहीं। बीज कभी नष्ट नहीं होता। इसमें भी नए फल आएँगे। नई भाषा आएगी। यह कहना कि लघुकथा सन् पचहत्तर में आई एक दम्भ है। हम यह कहते हैं कि अब इसका नया रूप आया है।[3]

लेकिन लघुकथा आन्दोलन के महत्त्व को विष्णुजी स्वीकारते हुए कहते हैं, आज लघुकथा को लेकर जो आन्दोलन उभरा है यदि वह न उभरा होता तो

1. सम्पा. कमलकिशोर गोयनका, विष्णु प्रभाकर : प्रतिनिधि रचनाएँ, पृ. 270-273
2. डॉ. सुभाष रस्तोगी, परिक्रमा, विष्णु प्रभाकर : समय एवं रचना-प्रक्रिया, पृ. 18
3. विष्णु प्रभाकर, मेरे साक्षात्कार, पृ. 310

सम्भवतः मेरा ध्यान इस ओर इतनी गम्भीरता से न जाता।[4]

लघुकथा को एक स्वतन्त्र विधा मानने पर विष्णुजी को कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन वे यह मानते हैं कि लघुकथा भी कथा ही है।[5]

यह आपत्ति उठाए जाने पर कि कथा होने से ही उपन्यास और कहानी तो एक नहीं हैं। उनका मानना है कि कथा-साहित्य में कहानी, उपन्यास, लघुकथा सभी आएँगे। लेकिन लघुकथा कहानी नहीं है। युगों की कथा को क्षणों में भोगने को लघुकथा कहते हैं।[6]

विधा के स्तर पर लघुकथा को कहानी से पृथक् मानते हुए विष्णुजी भाषा को ही वह आधार मानते हैं जिस पर कोई रचना लघुकथा हो सकती है। जैसे रेडियो नाटक और मंच नाटक की भाषा एक नहीं है, वैसे ही कहानी और लघुकथा की भाषा भी एक नहीं हो सकती। लघुकथा की भाषा तो ऐसी होनी चाहिए जो थोड़े में बहुत कह सके।[7] इसी प्रकार लघुकथा और कहानी के समापन में भी अन्तर है। कहानी की तुलना में लघुकथा का कथानक अन्तर्निहितपूर्णता लिए होता है।[8] वे यह भी मानते हैं कि लघुकथा का प्लॉट ही अलग है।[9]

विष्णुजी का मानना है कि, लघुकथा वह चीज है जिसे मैं कहानी में नहीं लिख सकता...वह कहानी का प्लॉट नहीं हो सकती और अपने आपमें सम्पूर्ण है...यह नहीं कि किसी स्तर पर आप लघुकथा लिखें, उसी पर लम्बी कहानी भी लिख दें...लघुकथा लिखना कठिन काम है...बहुत कठिन...लघुकथा हमको जीवन में मिलती है।[10]

प्रभाकरजी का मानना है कि लघुकथा के लिए कथ्य, भाषा और शैली तीनों चीजें अनिवार्य हैं। कथ्य के अनुरूप ही भाषा और शैली होनी चाहिए और लघुकथाकार थोड़े-से-थोड़े शब्दों में अधिक-से-अधिक बात कहने की कला में निष्णात होना चाहिए। जैसे छायावादी युग के कवि जब नारी के यौवन का वर्णन करते थे तो नख ने शिख तक हर चीज का वर्णन करते थे, लेकिन शरतचन्द्र ने नारी का वर्णन एक पंक्ति में किया—'यौवन जैसे उसके शरीर में ठहर गया था।'

---

4. विष्णु प्रभाकर, आपकी कृपा है (लघुकथा-संग्रह), पृ. 8
5. विष्णु प्रभाकर, मेरे साक्षात्कार, पृ. 314
6. वही, पृ. 316
7. वही, पृ. 316
8. वही, पृ. 317
9. वही, पृ. 317
10. वही, पृ. 315

तो लघुकथा के लिए इस भाषा की जरूरत है।[11]

आज की लघुकथा ने परम्परा से कलेवर ग्रहण किया है और नाटकीयता के तत्त्व का भी कुछ हद तक लघुकथा-लेखन में इस्तेमाल हो सकता है।[12]

विष्णु प्रभाकर ने 1939 ई. में लघुकथा-लेखन प्रारम्भ किया था। उनकी पहली लघुकथा 'सार्थकता' शीर्षक से 'हंस' के जनवरी, 1939 के अंक में प्रकाशित हुई थी। इसमें एक फूल की व्यथा-कथा बड़ी मार्मिकता से रेखांकित हुई है। प्रभाकरजी के हमें तीन लघुकथा-संग्रह उपलब्ध हैं, जो इस प्रकार हैं—'जीवन-पराग' (1963), 'आपकी कृपा है' (1982) और 'कौन जीता, कौन हारा' (1989)। सन् 2009 में उनका समग्र लघुकथा-लेखन 'सम्पूर्ण लघुकथा' पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। विष्णुजी ने अपने पहले लघुकथा-संग्रह 'जीवन-पराग' की भूमिका में लिखा है, यह 'बोधकथाओं का संग्रह' है। उनके दूसरे लघुकथा-संग्रह 'आपकी कृपा है' में पहले लघुकथा-संग्रह की भी कुछ रचनाएँ सम्मिलित हैं और दूसरे लघुकथा-संग्रह 'आपकी कृपा है' की 46 रचनाओं में 15 और लघुकथाएँ जोड़कर विष्णुजी का तीसरा लघुकथा-संग्रह 'कौन जीता, कौन हारा' प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार वास्तव में इनकी लघुकथाएँ और बोधकथाएँ दोनों साथ-साथ रखी गई हैं।[13]

विष्णु प्रभाकर की लघुकथाएँ सहज ही अपनी प्रस्तुति में जीवन-मूल्यों को रेखांकित करती हैं। इनमें अर्थ वहन करने की अपार क्षमता है। जीवन की विसंगतियों के अम्बार से विष्णुजी ने अपनी लघुकथाओं में संगति के मोती इस तरह से खोजे हैं कि अचरज होता है। उन्होंने अपनी प्रत्येक लघुकथा में जीवन के किसी भी क्षेत्र की, क्षेत्र के किसी अंश के सत्य की प्रस्तुति एक नए ढंग से की है। 'फर्क', 'ईश्वर का चेहरा', 'पानी की जाति', 'खद्दर की धोती', 'इन्सान', 'चोरी का अर्थ', 'पश्चाताप', 'तर्क का बोझ', 'जाति या जान', 'भगवान् और पुजारी', 'क्षमा' व 'दोस्ती' विष्णुजी की काल के भाल पर अपनी अलग पहचान दर्ज करनेवाली लघुकथाएँ तो हैं ही, हिन्दी लघुकथा परिदृश्य की भी दिशामोड़क लघुकथाएँ हैं। 'फर्क' प्रभाकरजी की बहुचर्चित लघुकथा है। भारत और पाकिस्तान की सीमाएँ निश्चित हैं। एक देश का निवासी दूसरे देश की सीमाओं में प्रवेश करेगा तो प्रश्नों के काँटों से बींध दिया जाएगा। परन्तु बकरियों का एक झुण्ड सीमा की परवाह किए बिना पाकिस्तान से हिन्दुस्तान चला आता है। इन्सान के लिए देशगत

---

11. वही, पृ. 311

12. वही, पृ. 140-141

13. सम्पा. डॉ. अशोक भाटिया, पैंसठ हिन्दी लघुकथाएँ, पृ. 34

सीमाओं का बन्धन है, परन्तु पशुओं के लिए देशगत सीमाओं के बन्धन बेमानी हैं। यह बात देखने में छोटी लगती है परन्तु प्रभाव इसका बड़ा है। यही वह बिन्दु है जो लघुकथा का महत्त्व, उसकी एक अलग पहचान स्थापित करता है। यही वह बिन्दु है जहाँ आदमी स्वयं को जानवर से भी बदतर जानवर पाता है।

आदमी ही है जिसने मनुष्य-मनुष्य के बीच देश, जाति, नस्ल और रंग की दीवारें खड़ी की हैं, वरना जानवर तो यह फर्क करना नहीं जानते। मनुष्य पहले मनुष्य है, हिन्दू और मुसलमान बाद में है। 'ईश्वर का चेहरा' इसी मानवीय मूल्य के पुनर्स्थापन की लघुकथा है। सबीना और प्रभा एक ही अस्पताल में दाखिल हैं और एक ही जानलेवा रोग से पीड़ित हैं। लेकिन वह अपने दुख को भूलकर बार-बार प्रभा के पास आ बैठती है और उसके शीघ्र स्वस्थ होकर घर जाने की कामना करती है। प्रभा सबीना की अपने प्रति चिन्ता और लगाव को देखकर सोचती है कि, 'ईश्वर का अगर कोई चेहरा होगा तो वह सबीना के चेहरे जैसा होगा।' 'पानी की जाति' लघुकथा भी विष्णुजी की श्रेष्ठतम लघुकथाओं में से एक है। यह लघुकथा विभाजन के उन हौलनाक दिनों की याद दिलाती है कि जब पानी भी हिन्दू और मुसलमान हुआ करता था। लेकिन असल में हिन्दू और मुसलमान के भेद की दीवारें समाज की ही खड़ी की हुई हैं। समाज का शुभ इन दीवारों को तोड़ने में ही अन्तर्निहित है और इन्हें तोड़ता है दुःख। गांधी टोपी और धोती पहने एक युवक जिसे ज्वर था और प्यास के कारण जिसके प्राण कण्ठ में आ गए थे, भटकता हुआ एक मुसलमान की दुकान में जा पहुँचा और उससे पानी माँगा। मुस्लिम युवक के यह कहने पर कि तुम तो हिन्दू हो, तुम हमारे हाथ का पानी पी सकोगे? उसका यह उत्तर देना, 'हिन्दू के भाई, मेरी जान निकल रही है। तुम जात की बात करते हो, जो कुछ हो लाओ।' उनके बीच हिन्दू-मुसलमान के कृत्रिम भेद को बेमानी कर देता है। मुस्लिम युवक का विद्वेष तत्क्षण हवा हो जाता है, वह न केवल उस हिन्दू व्यक्ति की उल्टी साफ करता है, बल्कि सहारा देकर उसे लिटाता भी है और उसे शिकंजी भी पिलाता है। 'खद्दर की धोती' विष्णुजी के बचपन की एक घटना पर आधारित लघुकथा है। इसमें गाँव की पैंठ से खद्दर की मोटी धोती लेने की जिद करनेवाला और पिता से गाल पर तमाचा खानेवाला लेखक स्वयं है। विष्णुजी की यह मान्यता है कि 'लघुकथा जीवन में होती है'। 'खद्दर की धोती' लघुकथा को उनकी इस मान्यता की पुष्टि के रूप में देखा जाना चाहिए।

'इन्सान' लघुकथा जातिगत विद्वेष को अमान्य ठहराती हुई व्यवस्था की इस विसंगति को उजागर करती है कि लॉरी के नीचे आकर घायल हुए बालक के

जख्मों की पट्टी करने के लिए डॉक्टर तब तक तैयार ही नहीं होता जब तक हवलदार आकर घायल बालक के जख्मों की पैमाइश करके बालक का हुलिया, बाप का नाम, बालक का बयान और ड्राइवर का बयान आदि नहीं लिख लेता। बालक को अस्पताल लाने से पूर्व भीड़ ड्राइवर की पिटाई इसलिए शुरू कर देती है क्योंकि ड्राइवर और बालक दोनों अलग-अलग जातियों के थे। ऐसे में लेखक की बलराज के रूप में उपस्थिति काबिले गौर है और व्यवस्था के इस चिरपरिचित अमानवीय दृश्य को देखकर उसका यह सोचना पूरे सिस्टम को कठघरे में खड़ा कर देता है, "एक घायल लड़का जिसके घावों से बराबर खून बह रहा है। एक बूढ़ा बाप, जो अपने घायल बेटे के बदन को सहलाता हुआ चुपचाप बैठा है और वक्त बीत रहा है...और बलराज तिलमिला रहा है। सोच रहा है इन्सान की कीमत! एक इन्सान की कीमत क्या कुछ भी नहीं है।" यहाँ घायल बालक का पिता एक सच्चे इन्सान का प्रतीकीकृत चरित्र है जो न तो लॉरी के ड्राइवर का चालान लिखवाता है और न ही सहृदयता की एवज में दिए गए दस रुपए की सहायता स्वीकार करता है। 'चोरी का अर्थ' पाठक के मन को अपनी संप्रेषणीयता से बड़े गहरे में प्रभावित करती है। एक लम्बे रास्ते पर सड़क के किनारे बैठा दुकानदार एक आने का सामान लेनेवाले राहगीर को जब एक रुपए का बाकी छुट्टा देने के लिए अपनी चिर-परिचित पुरानी सन्दूकची का ढक्कन भीतर की आलमारी से निकालकर खोलता है तो उसका हाथ वहीं-का-वहीं रुक जाता है क्योंकि उसमें रेजगारी थी ही नहीं। पास वैठे हुए आदमी के पूछने पर दुकानदार का उत्तर चोरी का एक नया अर्थ उजागर करता है। पाठक की चेतना पर हथौड़ा-सा बजता है। दुकानदार का यह उत्तर देखें, "कोई गरीब आदमी अपनी ईमानदारी मेरे पास गिरवी रखकर पैसे ले गया है।" संक्षिप्तता और कथन की वक्रता इस लघुकथा के विशेष गुण हैं। केवल 129 शब्दों की इस लघुकथा को गागर में सागर समोने के कारण इसे विष्णुजी की श्रेष्ठतम लघुकथाओं में शुमार किया जा सकता है। 'पश्चाताप' लेखक की गहरे मानवीय सरोकारों की लघुकथा है। वे सत्यान्वेषी लघुकथाकार हैं और अपनी लघुकथाओं के माध्यम से सत्य का अन्वेषण करते रहते हैं। नैतिक मूल्यों की पहचान और विश्वबन्धुत्व की भावना विष्णु प्रभाकर ने गांधीजी से सीखी थी, लेकिन वे रूढ़ अर्थों में गांधीवादी नहीं रहे हैं। इन सब बातों की चर्चा यहाँ इसलिए करनी पड़ रही है क्योंकि इस लघुकथा में जिस नैतिक (मानवीय) मूल्य की स्थापना हुई है, उसके मूल में कहीं गांधी दर्शन की छाया दिखाई देती है, लेकिन अन्ततः है यह भारतीय दर्शन की मूलभूत अवधारणा ही। 'पश्चाताप' लघुकथा में भूषण के मन में प्रिंसिपल को बताए बिना साइंस-रूम से तेजाब की बोतल चुराकर

ले जाने का अपराध-बोध है। एक महीने बाद इस अपराध-बोध से मुक्त होने के लिए तेजाब की बोतल अन्ततः जब वह वापस करता है तो प्रिंसिपल से अपने चोरी के अपराध की एवज में सजा के लिए प्रार्थना करता है तो प्रिंसिपल का मुस्कराते हुए यह कहना कि "एक महीने तक तुम पश्चाताप की आग में जलते रहे हो, वही क्या कम सजा है, जो मैं तुम्हें और दूँ।" दरअसल विष्णुजी अन्ततः मनुष्य की मनुष्यता में विश्वास करते हैं और यह मानते हैं कि पश्चाताप की अग्नि में तपकर अपराधी का मन भी कुन्दन बन जाता है। यही विष्णुजी का विष्णुवाद है जो उन्हें समकालीन लघुकथाकारों में एक अलग धरातल पर खड़ा करता है।

'तर्क का बोझ', 'जाति या जान', 'भगवान् और पुजारी' तथा 'क्षमा' भी लेखक की जीवन के उच्चाशयों को समर्पित महत्त्वपूर्ण लघुकथाएँ हैं। 'तर्क का बोझ' लघुकथा में संवेदनशील-सा दिखता राहगीर तथा अन्य लोग तर्कों के बोझ की गठरी सिर पर लादे ही रह जाते हैं, लेकिन इन्सानियत और करुणा की प्रतिमूर्ति तो गरीब मजदूर ही है। नंगे पैर सिर पर बिक्री के सामान का थाल रखे रोता हुआ बालक बीच-बीच में सुबकते हुए कहता है कि उसने दिनभर घूम-घूमकर दो रुपए का सामान बेचा था। उसमें से एक रुपया दस आने बाँधकर उसने अलग रख लिए थे। उस बँधी हुई पुड़िया को किसी राह चलते ने उचककर निकाल लिया। संवेदनशील-से दिखते राहगीर का मन पसीजा, लेकिन सोचा, यह लड़का धूर्त जान पड़ता है। पैसे कहीं रख आया है और अब झूठ-मूठ लोगों की करुणा का अनुचित लाभ उठाना चाहता है। इसी बीच एक गरीब मजदूर गुपचुप उसके थाल में एक रुपया दस आने रखकर तेजी से भीड़ में गुम हो जाता है। 'जाति या जान' की भावभूमि वही है जो विष्णुजी की ही लघुकथा 'पानी की जाति' की है। यह लघुकथा भी इसी तथ्य को रेखांकित करती है कि 'मानस की जात' एक ही है। 'भगवान् और पुजारी' लघुकथा धार्मिक पाखण्ड के खिलाफ जनमानस को लामबन्द करती कबीर की इस धारणा की अनुगामिनी प्रतीत होती है कि पण्डित और मशालची दोनों ही अँधेरे के निशाचर हैं। 'क्षमा' में लेखक ने लोककथा का समकालीन सन्दर्भ में बड़ा सटीक प्रयोग किया है। डोरा दीदी जो एक नगर के अस्पताल में नर्स है, कोयले की खान में एक धमाके में घायल हुए एक युवा मजदूर को अस्पताल में लाए जाने पर, यह जानते हुए भी कि उसी ने एक दिन उस पर पत्थर फेंका था जिसका निशान अभी तक उसके मस्तक पर बना हुआ था, उसका वैसे ही सदय भाव से उपचार करती है। इस क्षमा से उस युवा मजदूर के भीतर की मनुष्यता जाग उठती है। उसका पछतावा उसके मन के सारे कलुष को धो देता है।

'दोस्ती' लघुकथा हमारी पतनशील व्यवस्था के इस विद्रूप को अनावृत्त करती है कि विधायक और डाकू में अब कोई अन्तर नहीं रह गया है। यात्रियों से

भरी बस को डाकुओं ने घेर लिया था। यात्रियों के पास जो भी कुछ था—बटुए, जेवर, घड़ियाँ, सूटकेस सभी कुछ डाकुओं ने लूट लिया। इन्हीं यात्रियों में एक विधायक भी था सपत्नीक। जाते हुए डाकुओं के सरदार ने विधायक की चीजें लौटा दीं—पर्स, मणिमाला, ब्रीफकेस, सूटकेस सभी। एक सहयात्री ने अपनी व्यथा भूलकर जब विधायक से पूछा कि डाकुओं ने आपकी सब चीजें क्यों लौटा दीं तो विधायक ने कहा, 'उनका लीडर मेरा सहपाठी रहा है।'

वास्तव में विष्णु प्रभाकर की लघुकथाएँ उनके जीवनानुभवों में से निकलकर आई हैं। यह लघुकथाएँ समग्रतः उन जीवन-मूल्यों को रेखांकित करती हैं जो विष्णुजी के स्वार्जित अनुभवों का नतीजा हैं। चाहे हमारे वर्तमान के विद्रूप की कोई घटना हो अथवा देश के विभाजन का सन्ताप हो या फिर साम्प्रदायिक सद्भाव की बात हो, सभी में जीवन का रस व्याप्त है। विष्णुजी की लघुकथाओं में उपदेश आपको नहीं मिलेगा। उसके स्थान पर वह सब-कुछ मिलेगा जो आपको झकझोरेगा। बाध्य करेगा इस बात के लिए कि आप आन्दोलित हो जाएँ। एक भी लघुकथा केवल कहने के लिए नहीं कही गई है। सोद्देश्यता की भूमि में रची गई ये लघुकथाएँ अपने अन्तस् में भरपूर कथातत्त्व लिए हुए हैं।[14] इन लघुकथाओं के कलेवर में एक जिज्ञासा या प्रश्नाकुलता रहती है और यह अन्तिम पंक्ति पर जाकर शमित होती है। विष्णु प्रभाकर उस पीढ़ी के लेखक हैं जो जीवन-मूल्यों की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध थी और उनकी लघुकथाएँ मानवीय मूल्यों की दृष्टि से बहुत ही सम्पन्न और समृद्ध हैं।

विष्णुजी की लघुकथाओं में भाषा के पुरानेपन की झलक अवश्य मिलती है लेकिन यह भाषा कृत्रिम किसी दृष्टि से नहीं है। लघुकथा की भाषा के लिए संक्षिप्तता और संश्लिष्टता यह दो जो अपरिहार्य गुण हैं, वे विष्णु प्रभाकर की लघुकथाओं की भाषा में भरपूर मात्रा में हैं। विष्णु प्रभाकर लघुकथा के क्षेत्र में संकेतों के लेखक हैं और कम्पेक्ट संवादों के सुगढ़ रूप यहाँ देखे जा सकते हैं। जीवन के द्वन्द्व से निकलकर इन लघुकथाओं में शिवता साकार हुई है।[15] मानवीय हित को अधिमान देते हुए लेखक अपनी लघुकथाओं में मनुष्य के साथ ही खड़ा हुआ दिखाई देता है। ●

सम्पर्क : प्लैट नं. 14 ए, डिवाइन अपार्टमेण्ट्स, विकास नगर,
वार्ड नं. 12, बलटाना, जीरकपुर-140 604
मो. : 098151 78549

---

14. सम्पा. डॉ. महीप सिंह, विष्णु प्रभाकर : व्यक्ति और साहित्य, पृ. 207

15. वही, पृ. 209

# परसाई की लघुकथाएँ : सौन्दर्य-बोध के नए प्रतिमान

डॉ. बलराम अग्रवाल

चिन्तनपरक साहित्य में सौन्दर्य का रूप केवल स्वीकार में ही निहित नहीं होता, अस्वीकार में भी होता है। समाज में विकसित हो चुकी अनेकानेक गलत धारणाओं और अमानवीयता की सीमा तक जा पहुँचे संवेदनहीन कृत्यों का निषेध साहित्य में सौन्दर्य की अवधारणा को पुष्ट करता है। परसाई की लघुकथाएँ इस अस्वीकार और निषेध की मानक रचनाएँ हैं।

आजादी के बाद की स्थितियों को जिस सूक्ष्मता के साथ परसाई ने देखा, परखा और व्यक्त किया है उसके मद्देनजर डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का यह कहना शब्दशः उचित है कि "स्वातन्त्र्योत्तर भारत की स्थिति जितनी जटिल और छद्मपूर्ण है, परसाई की दृष्टि भी उतनी ही जटिल, काइयाँ, छद्म को भेदने में सक्रिय और नाटकीय है।" वे मानते हैं कि "स्वातन्त्र्योत्तर भारत के सभी प्रसिद्ध रचनाकारों के बारे में यह बात कही जा सकती है कि आजादी के बाद की स्थितियाँ जैसी घटित हुईं, वैसी न होतीं तो उनका लेखन भी वैसा न होता; लेकिन परसाई के बारे में यह बात उन सबसे ज्यादा लागू होती है।" वास्तविकता यह है कि आमजन की पीड़ा और व्यथा की ओर से बेपरवाह आज के भ्रष्ट और स्वार्थी राजनीतिज्ञों की नसों में बहते खून को आप काइयाँ हुए बिना परख ही नहीं सकते। उनके काइयाँपन को, बेईमानी को, भ्रष्टाचार को चिह्नित करनेवाला व्यक्ति उनकी नजर में सबसे बड़ा काइयाँ, बेईमान और भ्रष्ट है।

परसाई समकालीन हिन्दी व्यंग्य के शीर्ष रचनाकार हैं; तथापि व्यंग्य को विधा मानने सम्बन्धी उनके विचार कमला प्रसाद द्वारा सम्पादित पुस्तक 'आँखिन देखी' के 'आत्मकथ्य' में देखे जा सकते हैं और ज्ञानरंजन द्वारा उनके साथ की गई लम्बी बातचीत में भी। ज्ञानरंजन के इस प्रश्न के उत्तर में कि—"क्या आप व्यंग्य को स्वतन्त्र विधा मानते हैं?" उन्होंने कहा—"मेरे मत में व्यंग्य कोई विधा नहीं है।

उसका कोई स्ट्रक्चर नहीं है। यह एक स्पिरिट है जो हर विधा में आ सकती है। कहानी में, नाटक में, उपन्यास में। बर्नार्ड शॉ का प्रधान स्वर व्यंग्य है, लेकिन उनका मूल्यांकन नाटककार के रूप में होता है। व्यंग्य कविता से लेकर उपन्यास तक में आ सकता है।"

अपनी लेखन-शैली के बारे में परसाई ने स्पष्ट किया है कि—"पाखण्ड के बारे में मैं लेख न लिखकर कुल यह कह दूँगा—कुछ लोग इतने दयालु और धार्मिक होते हैं कि रोज सुबह मछली को दाना चुगाते हैं और रात को फिशकरी खाते हैं। यह व्यंग्य हो गया।" परसाई वस्तुतः 'विरोध' की भाषा और तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं। वे रंगीन को बदरंग कहने का साहस दिखाकर उसके छद्म को चीर डालनेवाले अनुपम कथाकार हैं।

"आपने लेखन लगभग किस सन् में आरम्भ किया?" ज्ञानरंजन के इस सवाल के जवाब में परसाईजी ने कहा है, "मैंने सन् 1948 के आसपास लिखना शुरू कर दिया; परन्तु जमकर मैंने 50-51 में लिखा।"

लघुकथा सम्बन्धी कुछ प्रश्नों के उत्तर देते हुए परसाईजी ने 1992-93 में कहा था कि—"लघुकथा कथात्मक अभिव्यक्ति का लघुतम रूप है।...लघुकथाओं में चरम बिन्दु (क्लाइमेक्स) का महत्त्व है। यह अन्त में आना चाहिए। काफी लघुकथाओं में यह नहीं आता या कमजोर आता है।...लघुकथा में व्यंग्य प्रधान तत्त्व है।..." लघुकथा को प्रभावशाली बनाने के लिए उनके सुझाव थे कि—

"1. लेखकों में सामाजिक चेतना होनी चाहिए।

2. वे अन्तर्विरोध को पकड़ें।

3. उनकी शैली का भी सहज होना आवश्यक है।

4. रचना छोटी, प्रभावशाली और विचार करने को बाध्य करनेवाली हो।

5. लघुकथा-लेखक अपने अनुभवों का विश्लेषण करें। उनका नजरिया स्वतन्त्र और स्पष्ट हो। अनुभवों का वे सही अर्थ करें और कम-से-कम शब्दों में उन्हें कह दें।"

लघुकथा विधा के बारे में उनका आकलन था कि—"लघुकथा तीखा प्रभाव छोड़ती है। प्रभाव एक पिन चुभोने जैसा होता है।"

परसाईजी ने लेखन की शुरुआत स्तम्भ लेखन से की थी। जबलपुर से प्रकाशित साप्ताहिक पत्र 'प्रहरी' में अघोर भैरव छद्म नाम से उन्होंने 1947 में 'नर्मदा के तट से' शीर्षक स्तम्भ लिखना शुरू किया जो 1960 तक जारी रहा। यों उन्होंने 'परिवर्तन', 'सारिका', 'कल्पना', 'करण्ट' आदि में भी स्तम्भ लिखे और साहित्यिक दृष्टि से वे सभी महत्त्वपूर्ण हैं; लेकिन 'प्रहरी' में लिखे स्तम्भ इस अर्थ

में कि उनकी शुरुआत देश की आजादी के साथ ही हुई, विशेष महत्त्व रखते हैं। उनकी अधिकतर रचनाएँ समवर्ती घटना और उससे जुड़े सन्दर्भों की उपज सिद्ध होती हैं इसलिए उनके अध्ययन के माध्यम से हम उक्त काल के समूचे सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक चरित्र का अनुमान और आकलन आसानी से कर पाते हैं।

उनकी लघुकथा 'बात' 'प्रहरी' के 15 अगस्त, 1954 के अंक में तथा 'संस्कृति' 'प्रहरी' के 12 फरवरी, 1956 के अंक में छपी थी।

परसाई के लेखन की विशेषता यह है कि वे 'असंगति' के लिए 'संगत' पदावली का प्रयोग करते हुए 'विरोध' को दर्ज करते हैं। उनकी कलम का स्पर्श पाकर 'विरोध' अपने मूल आलंकारिक गुण में प्रकट हो जाता है—वसन्त में समूचे पेड़ को पत्रहीन करके टहनी भर-भर खिले पलाश की तरह। लोगों में व्याप चुके दोगलेपन को वे न तो सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और न ही उस पर छद्म जनवादी किस्म का खोखला आक्रोश व्यक्त करते हैं। व्यक्ति या समाज के दोगलेपन को वे अपने 'टोन' से व्यक्त करते हैं और ऐसा करते हुए उतने ही सहज रहते हैं जितने कि सामान्यतः वे रहते आए हों।

अनेक प्रबुद्ध साहित्यिक यह कहते सुने जाते हैं कि प्रेमचन्द, प्रसाद आदि की कुछ लघु-आकारीय कहानियों को लघुकथा बताकर इस विधा से जुड़े लोग उन्हें जबरन 'लघुकथा' में घसीटते हैं; और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'परिहासिनी' में तो सिवाय चुटकुलों के कुछ है ही नहीं। विधाओं और लेखकों के बीच ऐसी 'रेखा' खींचने के अभ्यस्त महानुभावों की सेवा में सादर निवेदन है कि अपनी अन्तःप्रकृति में 'रचना' रेखागणित के प्रमेय की तरह जड़ आचरणवाली कभी नहीं होती। उसे समय के साथ बहता मरु-उद्यान या उसके साथ चलता-घूमता ज्वालामुखी कहना गलत न होगा। बदलते समय की चेतना के अनुरूप उसके भीतर बहुत-कुछ फूटता, बनता, बिगड़ता, सुधरता रहता है। बदलते समय की चेतना के अनुरूप ही कुछ रचनाएँ काल-विशेष में स्वयं अपना विधागत स्वरूप प्रकट अथवा निर्धारित करती हैं। लेखक या आलोचक के लिए ऐसी रचनाएँ अपने रचनाकाल से ही अबूझ पहेली बनी रह सकती हैं। पूर्वाग्रही लोग परसाईजी को लेकर भी यही आरोप उछाल सकते हैं कि उनके कद को कैश करने के लिए ही उन्हें 'लघुकथा' में जबरन घसीटा जा रहा है। मुझे याद आता है कि कुछेक ने कहीं पर ऐसा कहा भी है। उन्हें बता देना आवश्यक है कि आठवें दशक में लघुकथा-लेखन को आन्दोलन के तौर पर अपनानेवाले कथाकारों से अलग कुछ कथाकारों ने गाहे-बगाहे, तो बहुत-से अन्य कथाकारों ने बहुतायत में अपनाया था। उन कथाकारों में विष्णु प्रभाकर और हरिशंकर परसाई के नाम प्रमुखता से लिए जा सकते हैं। आठवें दशक में परसाई

ने भी लघुकथाएँ ही अधिक लिखीं, इस तथ्य को स्वयं उन्होंने अपनी पुस्तक 'विकलांग श्रद्धा का दौर' की 'कैफियत' शीर्षक से लिखी भूमिका में स्वीकार किया है। उस भूमिका से पेशे-नजर हैं ये पंक्तियाँ—"कुछ चुनी हुई रचनाएँ इस संग्रह में हैं। ये 1975 से 1979 तक की अवधि में लिखी गई हैं। 2-4 पहले की भी हो सकती हैं। पिछले सालों में मैंने लघुकथाएँ अधिक लिखी हैं। वे इस संग्रह में हैं।" इस संग्रह की भूमिका एक ओर जहाँ परसाई के लेखकीय व्यक्तित्व और मानवीय सरोकारों को हमारे सामने रखती है, वहीं उस पूरे दौर के चरित्र को भी सामने रखती है—"इस दौर में चरित्रहनन भी बहुत हुआ। वास्तव में यह दौर राजनीति में मूल्यों की गिरावट का था। इतना झूठ, फरेब, छल पहले कभी नहीं देखा था। दगाबाजी संस्कृति हो गई थी। दोमुँहापन नीति। बहुत बड़े-बड़े व्यक्तित्व बौने हो गए। श्रद्धा सब कहीं से टूट गई। इन सब स्थितियों पर मैंने जहाँ-तहाँ लिखा। इनके सन्दर्भ भी कई रचनाओं में प्रसंगवश आ गए हैं।

आत्म-पवित्रता के दम्भ के इस राजनीतिक दौर में देश के सामयिक जीवन में सब-कुछ टूट-सा गया। भ्रष्ट राजनीतिक संस्कृति ने अपना असर सब कहीं डाला। किसी का किसी पर विश्वास नहीं रह गया था—न व्यक्ति पर न संस्था पर। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका का नंगापन प्रकट हो गया। श्रद्धा कहीं नहीं रह गई। यह विकलांग श्रद्धा का भी दौर था। अभी भी सरकार बदलने के बाद स्थितियाँ सुधरी नहीं। गिरावट बढ़ रही है। किसी दल का बहुत अधिक सीटें जीतना और सरकार बना लेना, लोकतन्त्र की कोई गारण्टी नहीं है। लोकतान्त्रिक स्पिरिट गिरावट पर है।"

परसाई के लेखन के केन्द्र में मनुष्य और उसकी व्यापक प्रवृत्तियाँ हैं। उनका पहला आत्मपरक विश्लेषणात्मक निबन्ध 20 दिसम्बर, 1947 के 'प्रहरी' में प्रकाशित हुआ था। 'इण्डियन टाइम' शीर्षक इस निबन्ध में वे कहते हैं—"इण्डियन टाइम कहकर हम समय की पाबन्दी के उत्तरदायित्व से अपने को मुक्त कर लेते हैं।" डॉ. श्यामसुन्दर मिश्र के अनुसार—"...वे किसी मूलभूत समस्या के लिए उत्तरदायी तत्त्वों की सीधी पहचान कर लेते हैं तथा जनसाधारण के बीच उन्हें इस तरह से अलग कर देते हैं कि सभी लोग उन तत्त्वों की राष्ट्रीय एकता विरोधी भूमिका से अवगत हो जाते हैं। वे इन तत्त्वों की राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं और मानव विरोधी भूमिका से भी परिचित हो जाते हैं..."

अपनी लघुकथा 'बदचलन' में वे आमने-सामने दो पार्टियाँ खड़ी करते हैं। पहली पार्टी के रूप में, बाड़े में पहले से ही रहनेवाले तेरह 'शरीफ' किराएदार हैं तो दूसरी पार्टी के रूप में उसी बाड़े में रहने को आनेवाले नए किराएदार 'डिप्टी

कलेक्टर' हैं। इन 'डिप्टी साहब के इस मकान में आने से पहले ही उनके विभाग का एक आदमी मुहल्ले में आकर कह गया था कि यह बहुत बदचलन, चरित्रहीन आदमी है। जहाँ रहा, वहीं इसने बदमाशी की।' नतीजा यह निकला कि डिप्टी साहब मुहल्ले में रहने के लिए आने से पहले ही बदनाम हो गए। आकर रहने लगे तो मुहल्ले के एक-एक परिवार की शराफत का नकाब भी उतारने लगे। अब जरा इस लघुकथा के समापन पर ध्यान दीजिए—

एक दिन मैंने कहा, "बीवी-बच्चों को ले आइए न। अकेले तो तकलीफ होती होगी।"

डिप्टी साहब ने कहा, "अरे साहब, शरीफों के मुहल्ले में मकान मिले तभी तो लाऊँगा बीवी-बच्चों को।"

यह मुहल्लेवालों पर डिप्टी साहब का पलटवार नहीं है; बल्कि वह सामाजिक चरित्र है जिसे परसाई सरीखा छिद्रान्वेषी ही परख सकता है। देखनेवाली बात यह भी है कि परसाईजी ने विपरीत चरित्रों के अंकन की इस प्रक्रिया को लघुकथा में उन दिनों प्रस्तुत किया था जब अधिकतर कथाकार बिना किसी प्रक्रिया के उलट स्थितियों को चार लाइन में प्रस्तुत कर अपनी पीठ थपथपा रहे थे।

'सूअर' शीर्षक सामने आते ही दो बेहतरीन लघुकथाएँ दिमाग में कौंध जाती हैं। दोनों के शिल्प और शैली में भिन्नता है तथा कथानक में भी; लेकिन दोनों के ही मूल में आदमी की चारित्रिक गिरावट की चिन्ता है। इनमें से एक के लेखक रमेश बतरा हैं और दूसरी के हरिशंकर परसाई। रमेश बतरा ने 'सूअर' को समाज में साम्प्रदायिक सद्भाव को ठेस पहुँचाने की कोशिश करनेवालों में आरोपित किया है तो परसाईजी ने दहेज-लोलुपों में। परसाईजी की कथन-शैली के तो सब कायल हैं ही, उनकी आकर्षक बिम्ब-योजना पर भी एक नजर डालिए—

शामियाने के नीचे चौबेजी बैठे थे। उनकी नजर वहीं लगी थी, जहाँ विवाह की रस्में हो रही थीं। वे इन्तजार कर रहे थे कि थाली में पैंतीस हजार और आते होंगे।

इसी समय एक सूअर का बच्चा वहाँ घुस आया। दो-तीन लोग उसे बाहर खदेड़ने लगे। एक-दो ने उसे छड़ी मारी। सूअर का बच्चा घबड़ाकर भटक गया। उसे रास्ता नहीं मिल पा रहा था। वह चौबेजी की तरफ बढ़ा। लोग उसके पीछे पड़े थे। चौबेजी ने कहा, "अरे, अरे, उसे तंग मत करो। सूअर का बच्चा बड़ा खूबसूरत होता है। वेरी स्वीट।"

और चौबेजी प्यार से सूअर के बच्चे पर हाथ फेरने लगे। इसी समय थाली में पैंतीस हजार रुपए आ गए।

सूअर का बच्चा ऐसे इत्मीनान से खड़ा था, जैसे अपने पिता के पास खड़ा हो।

यह बिम्ब प्रयास करने से नहीं बनता, करुणा से उपजता है। कथाकार के हृदय में जब तक अवांछित के प्रति आक्रोश, पीड़ित के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न नहीं होगा, तब तक ऐसा बिम्ब उसकी कल्पना से बाहर ही रहेगा। अपनी अकर्मण्यता और दुष्कर्म को बहुत-से लोग पाखण्ड, उत्तेजना या अति विनम्रता से ढँकते हैं। परसाईजी का लेखन पाखण्ड, उत्तेजना और अति विनम्रता की असलियत को सामने लाता है। 'सूअर' जैसी लघुकथा के माध्यम से सिद्ध है कि उत्तेजना और अति विनम्रता परसाईजी के यहाँ छद्म का लक्षण हैं।

आजाद हिन्दुस्तान में नौकरशाही का चरित्र अंग्रेज नौकरशाहों जितना ही क्रूर और अमानवीय रहा है। नियम-पुस्तिका को मानवीयता के उजाले में देखने के अभ्यस्त न वे थे, न ये हैं। दरअसल, 'काला अंग्रेज' संज्ञा इन पर पूरी तरह खरी उतरती है। परसाईजी की लघुकथाएँ 'अनुशासन' व 'यस सर!' मानवीयता से विहीन नौकरशाही और नेताशाही के ऐसे ही चेहरे को सामने लाती हैं। 'अनुशासन' के मास्टर साहब तो 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' का अनुकरण करते हुए अपने साहब को उसकी क्रूर अकर्मण्यता का भरपूर मजा भी चखाते हैं। 'अनुशासन' के मास्टर साहब सिद्ध करते हैं कि परसाईजी के सभी चरित्र छद्म से आवेष्टित नहीं हैं। उनमें से कुछ का आदर्श विद्रोह भी है। लेकिन उनके ऐसे चरित्र वीरोचित उत्तेजना या किसी प्रकार की नायकोचित गरिमा से दूर सहज व सामान्य रहते हैं। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में—"मनुष्य प्रकृति का शोषण करता है और मनुष्य का भी—प्रकृति से भी प्रेम करता है और मनुष्य से भी। शोषक और शोषित के उद्यम और दाँव-पेंच चलते रहते हैं।...मानवीयता का सरोकार सिर्फ मानव समाज नहीं, प्रकृति भी है।...परसाई का व्यंग्य स्वातन्त्र्योत्तर भारत की नैतिक धार है। वह करुणा से कर्म की प्रेरणा देता है। वर्तमान की समझ से उत्पन्न संवेदना ही करुणा है। कर्म करुणा की माँग है। इसी अर्थ में वह बीज-भाव है। समझ से उत्पन्न संवेदना ज्ञानात्मक संवेदन है जो सकर्मकता की माँग करती है। वह आचरण की माँग करती है।" 'अनुशासन' में उल्लिखित शिक्षा विभाग का साहब और 'यस सर!' में उल्लिखित मुख्यमन्त्री, उसका चीफ सेक्रेटरी, कमिश्नर, कलेक्टर, रेण्ट कण्ट्रोलर, रेण्ट इन्सपेक्टर और उसका मातहत सारा प्रशासन अकर्मण्यता और दायित्वहीनता के सजीव उदाहरण हैं। डॉ. त्रिपाठी के अनुसार—"...अकर्म को स्वातन्त्र्योत्तर भारत ने दुष्कर्म से भरा और ढँका है। परसाई अकर्म की पहचान दुष्कर्म से कराते हैं; कर्म की व्यंजना भी करते हैं। अकर्म अर्थात् दुष्कर्म के

अनेकानेक रूपों का चित्रण करते हैं। ये चित्रण व्यंग्य ही नहीं हैं। वे कर्म के अभाव की पीड़ा की भी व्यंजना हैं।"

अपने एक साक्षात्कार में परसाईजी ने कहा है कि—"दक्षिणपन्थी ताकतें इस समय पुनरुत्थानवाद को उभारने में लगी हैं। अपने कल्पित स्वर्णिम अतीत की स्मृति से आधुनिक-बोध और जीवन-पद्धति को वे रोकना चाहती हैं। दूसरे, यही ताकतें मनुष्य को भाग्यवादी बनाने की कोशिश में हैं। जितने धार्मिक प्रवचन, अनुष्ठान, भजन, कीर्तन, यज्ञ इस समय हो रहे हैं, उतने पहले कभी नहीं हुए। ऐसा एक योजना से हो रहा है।...लेखक को इस पुनरुत्थानवाद और भाग्यवाद से संघर्ष करना चाहिए और इस सम्बन्ध में जनता को शिक्षित करना चाहिए।" यहाँ 'शिक्षित करने' से उनका तात्पर्य यह नहीं था कि लेखक को जनता के बीच प्रवचनकर्त्ता की भूमिका में उतर पड़ना चाहिए; बल्कि यह था कि लेखक को दोगले चेहरों और चरित्रों की असलियत निडर होकर जनता के सामने रखनी चाहिए। लघुकथा 'देव-भक्ति' में वे लिखते हैं—

प्रथा कुछ ऐसी चल गई है कि हर जाति के लोग अपने अलग गणेशजी रखते हैं। इस तरह ब्राह्मणों के अलग गणेश होते हैं, अग्रवालों के अलग, तेलियों के अलग, कुम्हारों के अलग। पच्चीस-तीस तरह के गणेशोत्सव होते हैं, और नौ-दस दिनों तक खूब भजन-कीर्तन, पूजा-स्तुति, आरती, गायन-वादन होते हैं। आखिरी दिन गणेश-विसर्जन के लिए जो जुलूस निकलता है, उसमें सबसे आगे ब्राह्मणों के गणेशजी होते हैं।

इस साल ब्राह्मणों के गणेशजी का रथ उठने में जरा देर हो गई। इसलिए तेलियों के गणेशजी आगे हो गए।

जब यह बात ब्राह्मणों को मालूम हुई, तो वे बड़े क्रोधित हुए। बोले—"तेलियों के गणेश की 'ऐसी-तैसी'। हमारा गणेश आगे जाएगा।"

यह मामला गणेश और गणेश के बीच अन्तर मात्र का नहीं है। यह सामाजिक सामंजस्य की चेतना में गिरावट का मामला है जो सीधे-सीधे उच्चवर्गीय अहं से जुड़ा है। धार्मिक और सांस्कृतिक आयोजनों में यह आसानी से मुखर होता देखा जाता है। एक पौराणिक कहानी है जिसमें लेटकर आराम कर रहे एक गुरुजी अपने दो चेलों से कहते हैं—"बेटा, मेरी टाँगें दबा दो।" एक चेला दाईं टाँग की ओर तथा दूसरा बाईं टाँग की ओर बैठकर गुरुजी की आज्ञा का पालन करने लगते हैं। कुछ समय बाद उनमें से बाईं ओर बैठा चेला शरारतवश गुरुजी की दाईं टाँग पर हल्की-सी चपत लगा देता है। उसकी इस शरारत से चिढ़कर दाईं ओर बैठा चेला गुरुजी की बाईं टाँग पर चपत लगा देता है। बात हल्की चपत से बढ़कर घूँसे

तक पहुँच जाती है और अन्ततः उनमें से एक यह कहते हुए कि 'तूने मेरे हिस्से की टाँग में घूँसा मारा? ले...' समीप रखा पत्थर का टुकड़ा दूसरे साथी के हिस्सेवाली टाँग पर दे मारता है। स्पष्ट है कि इन मूर्ख चेलों की सेवा पाकर गुरुजी अपनी दोनों टाँगें गँवा बैठे होंगे। इस कथा में गुरुजी समूचे समाज का और चेले अपने-अपने अहंकार में अकड़े बैठे समुदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं। समाज के विभिन्न समुदायों में आई इस चारित्रिक गिरावट को परसाईजी ने अपनी बातचीत के दौरान अनेक बार स्पष्ट किया है। कार्ल मार्क्स के हवाले से उन्होंने कहा है—"धर्म भ्रमात्मक सुख देता है, जबकि मनुष्य को वास्तविक सुख चाहिए जो सामाजिक परिवर्तन से प्राप्त होता है। शोषक वर्ग आम आदमी को भ्रमात्मक सुख में उलझाकर उसे वास्तविक सुख के लिए संघर्ष करने से रोकता है।"

भारतीय समाज जाति के बन्धन में किस हद तक जकड़ा हुआ है, इस बात को बार-बार दोहराने की जरूरत नहीं है। यह कहना कि जातियों के जाल ने मात्र सवर्णों को ही जकड़ रखा है, आज की परिस्थितियों में शत-प्रतिशत उचित नहीं जान पड़ता। जातियों के जाल ने आज ब्राह्मणों से लेकर दलितों तक को अपनी गिरफ्त में जकड़ रखा है। ब्राह्मण एक कारण से, ठाकुर दूसरे कारण से, वैश्य तीसरे कारण से तो दलित किसी अन्य कारण से जाति के बन्धन से बाहर आने को तैयार नहीं है। जातियों के विलय से सवर्णों को अपनी जाति के सांस्कृतिक गौरव के विलीन हो जाने का भय है तो दलितों को कुछेक राजनीतिक लाभों से वंचित हो जाने का। हिन्दू सम्प्रदाय की हालत सम्प्रति सन्तरे के फल जैसी है जो ऊपर से तो एक नजर आता है लेकिन भीतर अनेक में बँटा हुआ है। हिन्दू धर्मान्तर्गत सभी वर्ग विवाहेतर परस्पर व्यभिचार के सम्बन्ध पर आसानी से सहमत भी हैं और व्यवहृत भी; लेकिन विवाह करके एकजुट होने पर नहीं। परसाईजी की लघुकथा 'जाति' का यह समापन अंश द्रष्टव्य है—

किसी ने उन्हें समझाया कि लड़के-लड़की बड़े हैं, पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं। उन्हें शादी कर लेने दो। अगर उनकी शादी नहीं हुई, तो भी वे चोरी-छिपे मिलेंगे और तब जो उनका सम्बन्ध होगा, वह तो व्यभिचार कहा जाएगा।

इस पर ठाकुर साहब और पण्डितजी ने कहा—"होने दो। व्यभिचार से जाति नहीं जाती; शादी से जाती है।"

सरकार की कार्य-प्रणाली पर जितना मुखर क्षोभ परसाईजी ने व्यक्त किया है, उनके समय के किसी अन्य कथाकार ने उसका आधा भी किया होता तो हिन्दी लघुकथा का ग्राफ इस समय किस ऊँचाई पर होता, इसका अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है। 'मुण्डन' शीर्षक अपनी एक लघुकथा में उन्होंने शासक वर्ग के

एक मन्त्री की कार्य-प्रणाली के माध्यम से संसदीय गरिमा से खिलवाड़ का जैसा वर्णन तब किया था, बिलकुल वैसी ही, और शायद उससे भी अधिक निकम्मी कार्य-प्रणाली आज संसद में बैठा लगभग हर सांसद अपनाए हुए है। 'मुण्डन' जैसी ही कथावस्तु को उन्होंने 'रोटी' शीर्षक लघुकथा में पिरोया है। इस तरह की रचनाओं के माध्यम से उन्होंने देश में बढ़ रही विभिन्न समस्याओं की जवाबदेही से बचने के लिए सरकारी तन्त्र द्वारा आयोग या जाँच-समिति की नियुक्ति को ढकोसला मानकर उस पर असहमति ही नहीं, आक्रोश भी व्यक्त किया है। अन्तर केवल यह है कि आक्रोश को वे नारा नहीं बनाते। इस बारे में उन्होंने स्पष्ट तौर पर कहा है—"मैं सुधार के लिए नहीं, बल्कि परिवर्तन के लिए लिखता हूँ।" 'रोटी' की शुरुआत वे यों करते हैं—

'प्रजातन्त्र के राजा ने जहाँगीर की तरह अपने महल के सामने एक जंजीर लटका रखी थी। घोषणा करवा दी थी कि जिसे फरियाद करनी हो, वह जंजीर खींचे; राजा साहब खुद फरियाद सुनेंगे।'

यहाँ 'प्रजातन्त्र के राजा' की व्यंजना पर ध्यान दीजिए। राजा भी ऐसा-वैसा नहीं जहाँगीर को फालो करनेवाला। अब, जिन्हें जहाँगीर का इतिहास मालूम है, वे आसानी से समझ लेंगे कि देश का 'प्रजातन्त्र' वस्तुतः प्रजा के नहीं 'राजाओं' के हाथों में खेल रहा है और 'प्रजा' की हैसियत इस 'तन्त्र' में कितनी हास्यास्पद है।

परसाईजी की लघुकथा 'खेती' भी निकम्मी शासन-प्रणाली पर क्षोभ और व्यथा की कथा कहती है। इस क्षोभ और व्यथा की शुरुआत देखिए—

'सरकार ने घोषणा की कि हम अधिक अन्न पैदा करेंगे और एक साल में खाद्य में आत्म-निर्भर हो जाएँगे।

दूसरे दिन कागज के कारखानों को दस लाख एकड़ कागज का ऑर्डर दे दिया गया।'

इस तरह सरकारी मशीनरी की ओर से दस लाख एकड़ कागज पर खेती शुरू हो गई और देशभर के विभागों में घूमती हुई फाइलों की फसल पककर फूड कार्पोरेशन के पास पहुँच गई। मानवीय संवेदना से हीन सरकारी मशीनरी की इस किसानद्रोही और व्यापक अर्थ में राष्ट्रद्रोही कार्रवाई से क्षुब्ध परसाईजी कथा को यहीं नहीं रोकते, आगे बढ़ाते हैं—

एक दिन एक किसान सरकार से मिला और उसने कहा—"हुजूर, हम किसानों को आप जमीन, पानी और बीज दिला दीजिए; और अपने अफसरों से हमारी रक्षा कर लीजिए, तो हम देश के लिए पूरा अनाज पैदा कर देंगे।"

लघुकथा के इस अंश में परसाईजी का अपने देश के किसान की कर्मठता,

अनाज उगाने की योग्यता और कर्तव्यपरायणता पर विश्वास झलकता है। उसे अगर समुचित सामग्री मुहैया कराई जाए तो वह क्या नहीं कर सकता! किसानों के माध्यम से वे सरकार से गुहार लगा रहे हैं—"अपने अफसरों से हमारी रक्षा कर लीजिए।" यह कथा लिखे जाने के बाद के इन दशकों में सरकारी तन्त्र की बेहयाई जिस कदर बढ़ी है उसके मद्देनजर, सरकार से उनकी यह गुहार आज और भी अधिक समीचीन हो गई है।

लघुकथाओं के माध्यम से परसाईजी भारतीय समाज की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विसंगतियों पर गहरा दृष्टिपात करते हैं तथा बिना किसी लाग-लपेट, डर या पक्षपात के उसे व्यक्त करते हैं।

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं कि—"देश-प्रेम और मानव-प्रेम सौन्दर्य-बोध के दायरे में आता है। जिसे अपने देश की संस्कृति की चिन्ता होती है, वही देश में घटनेवाली प्रत्येक घटना को इतनी चौकसी से देखता है और अभावग्रस्त का पक्षधर होकर उसका लेखा-जोखा करता है। परसाई लगभग चार दशकों तक देश और दुनिया की घटनाओं से व्यथित-क्षुब्ध-आह्लादित होते रहे। अनवरत रचना करते रहे। परसाई किसी सेठ या प्रतिष्ठान के अलंकार नहीं बने। यह निरन्तरता उस सौन्दर्य-बोध की माँग और जिम्मेदारी थी। परिवेश में सौन्दर्य-विरोध और हृदय में सौन्दर्य को देखने की आकांक्षा हो तो रचनाकार कुरूपता को काटकर सौन्दर्य की मूर्ति गढ़ता है।"

कुरूपता की काट का एक सहज उदाहरण उनकी लघुकथा 'प्रथम स्मगलर' है। परसाईजी दरअसल, हिन्दू धर्माचार्यों और धर्मावलम्बियों के दोगले चरित्र से त्रस्त थे। अपनी लघुकथा 'प्रथम स्मगलर' में उन्होंने मेघनाद की शक्ति से मृतप्राय हो चुके लक्ष्मण की चिकित्सा के लिए हिमालय क्षेत्र से संजीवनी लेकर लौट रहे हनुमान की कथा को उठाया है। संजीवनी सहित उन्हें शत्रुघ्न द्वारा अयोध्या में पकड़ लिया जाता है और राजा भरत के सामने पेश किया जाता है। हनुमान पर संजीवनी की स्मगलिंग का चार्ज लगता है। केस रजिस्टर में दर्ज हो चुका होता है कि हनुमान उन्हें बताते हैं—

यह दवा तो मैं राम के लिए ही ले जा रहा था। बात यह है कि आपके भाई लक्ष्मण घायल पड़े हैं। इस दवा के बिना वे बच नहीं सकते।

भरत और शत्रुघ्न ने एक-दूसरे की तरफ देखा। तब तक रजिस्टर में स्मगलिंग का मामला दर्ज हो चुका था।

शत्रुघ्न ने कहा, "भरत भैया, आप ज्ञानी हैं। इस मामले में नीति क्या कहती है? शासन का क्या कर्तव्य है?"

भरत ने कहा, "स्मगलिंग तो अनैतिक है। पर स्मगल किए हुए सामान से अपना या अपने भाई-भतीजे का फायदा होता है, तो यह काम नैतिक हो जाता है। जाओ हनुमान, ले जाओ दवा।"

मुंशी से कहा, "रजिस्टर का पन्ना फाड़ दो।"

यह कटुता किसके प्रति है? शासक वर्ग में पनप चुके मिथ्याचार के प्रति या कुछेक नामों को अपनी श्रद्धा का केन्द्र निर्धारित कर लेने के नकारात्मक मनोविज्ञान के प्रति? इस बारे में स्वयं परसाईजी स्थिति को स्पष्ट कर रहे हैं—"कुछ लोग कहते हैं कि व्यंग्य में कटुता होती है। कुछ तो यहाँ तक कहते हैं कि व्यंग्य अमानवीय होता है। सही व्यंग्य-लेखक में कटुआ आ जाय, यह बात अलग है। एक सचेत लेखक यदि गलत और घातक व्यवस्था के प्रति कटु है तो वह कटुता पवित्र है।" अगर ध्यान से देखें तो 'प्रथम स्मगलर' जैसे शासकीय आदेश आपको आज भी अनेक सुनने को मिल जाएँगे। इस रचना में शासक अपने मुंशी को रजिस्टर का मात्र सम्बन्धित पन्ना ही फाड़कर फेंकने को कहता है, ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब शासन-तन्त्र से जुड़े लोगों ने पन्ना ही नहीं फाड़ा, पूरा रजिस्टर यानी केस से सम्बन्धित सारा रिकॉर्ड ही गायब कर दिया। जरा सोचिए कि इस कथा में आपत्तिजनक क्या है? पात्रों के नाम, जिन्हें हिन्दू समाज श्रद्धापरक भावना से पढ़ता-सुनता है। इस श्रद्धा को परसाईजी अनेक कारणों से विकलांग श्रद्धा कहते हैं और इससे छुटकारे के लिए अपने पाठक को प्रेरित करते हैं। उनका कहना है कि—"जिन परम्पराओं को हम कैंसर की तरह पाले हैं; जहाँ विसंगति, अन्याय, मिथ्याचार, शोषण, पाखण्ड, दोमुँहापन आदि हैं, मैं कोशिश करता हूँ कि इन्हें देखूँ, गहरे जाकर इनका अन्वेषण करूँ और कारण खोजूँ। और फिर ऐसे अनुभव को विश्लेषित करके रचनात्मक चेतना का अंग बनाकर कुछ इस तरह कह दूँ कि एक तथ्य ताकत के साथ उद्घाटित हो जाय।" समूची सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक विसंगति, अन्याय, मिथ्याचार, शोषण, पाखण्ड, दोमुँहेपन से घृणा, व्यंग्य एवं तिरस्कार प्रगतिशील साहित्य के सौन्दर्यबोध का महत्त्वपूर्ण अवयव हैं। उनके लेखन और चिन्तन के बारे में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का मत है कि—"परसाई परम्पराद्रोही नहीं; किन्तु वे सब पर हँसते हैं। वे मिथकों का रचनात्मक उपयोग मिथक-भंजन के लिए करते हैं।...परसाई के यहाँ सौन्दर्यबोध गहरा, प्रच्छन्न है। नेपथ्य काफी दूर है। इस प्रतिष्ठान-प्रहार व्यंग्य-विनोद के पीछे अमानवीय स्थिति की, उसको न बदल पाने की यातना है। तीव्र घृणा है, अच्छे दिनों की आशा का स्वप्न है—और इन सबके साथ रचनात्मकता का आग्रह वर्तमान की धार पर है।"

लघुकथा 'बात' पुरुष समाज के उस चरित्र का खुलासा करती है जिस पर

पारम्परिक रूप से स्त्रियों का एकाधिकार माना जाता है। 'बात' यों शुरू होती है—

उस दिन सुबह रमेश मिले। कहने लगे, "एक बात तुम्हें बतलानी है। लेकिन अभी उसे अपने पास तक ही रखना। मेरे सिवाय किसी को मालूम नहीं है।...अभी किसी से कहना मत!"

दोपहर को यही बात दिनेश कहता है और शाम को कमलेश। दूसरे दिन सुबह यही बात रामलाल कहता है, दोपहर में श्यामलाल और शाम को मोहनलाल। और अन्त में पता चलता है कि इतनी विश्वसनीय और गुप्त सूचना सिरे से ही बेबुनियाद थी। सामना होने पर सब के सब यही कह पाए कि वह अफवाह उन्होंने नहीं उड़ाई, (पहले से ही) सारे शहर में फैली हुई है। कहना पड़ रहा है कि परसाईजी की 'बात' एक साधारण रचना है; इसमें वो बात नहीं नजर आती है जो उनकी अन्य लघुकथाओं में है। ●

सम्पर्क : एम-70, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

मो. : 088264 99115

ई-मेल : 2611ableram@gmail.com

# हिन्दी लघुकथा की बुनियाद

डॉ. राकेश कुमार

लघुकथा साहित्य की अन्य विधाओं की तरह एक स्वतन्त्र विधा के रूप में भले ही स्थापित हो गई हो, लेकिन इस विधा में ऐसा क्या नवाचार है जो इसे अन्य विधाओं से पृथक् बनाता है? जब कोई नई विधा अस्तित्व में आती है तो उसके शास्त्रनिर्धारण, प्रतिमानीकरण, मानकीकरण का प्रश्न भी उठ खड़ा होता है कि इसे किन प्रतिमानों, सिद्धान्तों के आधार पर पहचाना और परखा जाए। लघुकथा विधा कहानी विधा से किन अर्थों में अलग है? क्या इसके पीछे आकारगत लघुता ही इसका मापदण्ड हो सकता है कि वह कितने कम-से-कम शब्दों में लिखी गई है और वाक्यों के सुसंगठित संयोजन ने इस विधा को जनप्रिय बनाया है? क्या यह कहानी का लघु संस्करण है? इसका रूप-विधान, संरचना, शिल्प-विधान कहानी से अलग कैसे पड़ता है? क्या कविता में भी दोहा छन्द का प्रयोग नहीं हुआ? कहाँ आकारगत विशालता के महाकाव्य और कहाँ कबीर के दोहे? कबीर का दोहा छन्द क्या अपने भीतर जीवन के विराट सौन्दर्य-बोध, विचारधारा को समाहित नहीं किए होता? लघुकथा भी एक ऐसी ही विधा है जो आकारलघुता, सीमित शब्दों, वाक्यों में संयोजित, जीवन के बहुत गहरे सवालों को उठाती, हमारे समय के साथ संवाद रचाती, बेचैन कर देनेवाली विधा है। वैश्विक साहित्यिक परिदृश्य में भी लघुकथा अपना इतिहास रच चुकी है। दुनिया के बड़े लेखकों ने इस विधा में बहुत ही सार्थक लिखा है। यही वजह है कि प्रेमचन्द, विष्णु प्रभाकर, हरिशंकर परसाई जैसे सशक्त संस्कृतिकर्मी भी लघुकथा-लेखन में अपनी पहचान बना चुके हैं। हालाँकि हिन्दी आलोचना में उपन्यास और कहानी विधा को लेकर भी कोई गम्भीरता दिखाई नहीं देती। कहानी आलोचकों ने भी इस विधा को पहचानने-परखने में काफी गैरजिम्मेदारी दिखाई है और समकालीन कहानी, उपन्यास पर पाँच सौ पृष्ठों की फूहड़ भारी-भरकम बाजारू पुस्तकें लिख देते हैं जो सिर्फ शोधार्थियों, अच्छे अंक प्राप्त करनेवाले जिज्ञासु पाठकों का आहार बनती हैं और पुस्तकालयों में

दीमकों का। लघुकथा विधा पर उनकी नजर टिक ही नहीं सकती। ऐसे लोग बाजार की माँग और आपूर्ति के नियमों के अनुसार काम करते हैं। इसीलिए लघुकथा विधा आलोचकों, पाठकों एवं प्रकाशकों की उपेक्षा का शिकार रही है। जहाँ तक इसके इतिहास और भविष्य का प्रश्न है कि हिन्दी की प्रथम लघुकथा किसे कहा जाए? किस लेखक की कलम से 'लघुकथा का जन्म' हुआ? ऐसी जन्मपत्रियाँ तैयार करनेवाले विद्वान लोगों की कोई कमी नहीं है। जरूरत आज इस विधा के स्वरूप को पहचानने तथा इसके वैशिष्ट्य-भिन्नता को रेखांकित करते की है कि यदि प्रेमचन्द कफन, शतरंज के खिलाड़ी जैसी कालजयी कहानियाँ लिखते हैं तो उन्हीं की कलम से दरवाजा, राष्ट्र का सेवक, गुरु-मन्त्र जैसी सशक्त लघुकथाएँ भी आती हैं तो कैसे?

प्रेमचन्द ने लघुकथा क्षेत्र में भी बहुत उत्कृष्ट कोटि की रचनाओं का सृजन किया है। आकारगत विशालता और लघुता के प्रतिमान उनके लिए चुनौती नहीं हैं। वे चाहे बड़े आकार की कहानियाँ लिखें अथवा लघुकथाएँ; उनकी संरचनात्मक बुनावट, कसा हुआ ढाँचा, अभिव्यक्ति कौशल, कथात्मकता बेजोड़ है। अक्सर देखने में आता है कि लेखक बड़े आकार की रचना में भी कमजोर किस्म की रचना लिख देते हैं और कई बार लघुकथा में इतनी कसी, मँजी हुई रचना लिखते हैं कि आश्चर्य होता है। बड़े लेखकों के लिए आकारगत विशालता अथवा लघुता जैसे मापदण्ड, प्रतिमान बेमानी होते हैं। वे ऐसे मापदण्डों, चौखटों, शास्त्रीय प्रतिमानों को ही चुनौती दे देते हैं। प्रेमचन्द की लघुकथाओं का कथा-पक्ष और शिल्प-पक्ष इतना मजबूत, कसा हुआ है कि कहीं भी उनमें बिखराव दिखाई नहीं देता।

'दरवाजा' लघुकथा दरवाजे का प्रतीक रचती है कि यह हमारी हिफाजत भी है और मुसीबत भी। वह हमें कैद करता है; घरघुस्सू बनाता है। हमारी सृजनशीलता को भी नष्ट करता है। दरवाजे में बन्द व्यक्ति खुद को कैदी, गुलाम अनुभव करता है। बाहर की दुनिया कितनी खूबसूरत है। हरियाली, प्रकृति, आकाश, पक्षी। घर महदूद है। कहानी का पात्र इस महदूद और गैरमहदूद के बीच एक कड़ी बनना चाहता है। क्या यह सम्भव है?

'बाबाजी का भोग' लघुकथा में साधु समाज पर व्यंग्य है कि कैसे ये लोग अपनी ठग-विद्या, वाक्कला (वाग्जाल) से भोले-भाले लोगों को ठगते हैं। इनका इन्द्रियों पर कोई नियन्त्रण नहीं है। साधु-सन्त वह है जो मोहमाया के बन्धनों से मुक्त है। यहाँ साधु को सादा भोजन नहीं, वरन् घी, शक्कर, हलवा चाहिए। कहानी में दिखाया है कि कैसे वह साधु रामधन जैसे भोले-भाले निर्धन व्यक्ति के घर में जमकर खाना खाता और वहीं द्वार पर सो जाता है, जिसे देखकर रामधन

कह उठता है कि 'मुझसे तो यही अच्छे।' वह खुद उस रात दाल पीकर गुजारा करता है। उसके घर में चूल्हा नहीं जलता। इस देश में साधु, सन्त, महात्मा गरीब जनता को लूटकर हलवा, पूरी, भाँग छक रहे हैं। साधु, सन्त, महात्मा बनकर समाज को लूटा जा सकता है। 'गुरु-मन्त्र' भी ऐसी ही लघुकथा है जहाँ साधु, सन्त, महात्मा, धर्माचार्य बनकर अच्छी कमाई की जा सकती है, बशर्ते व्यक्ति के पास समाज को ठगने की कला हो। कितनी महत्त्वपूर्ण बात कही है—"यह भी याद रखो कि कभी सादी हिन्दी मत बोलना, नहीं तो मर्म खुल जाएगा। टेढ़ी हिन्दी बोलना।" यानी जो भ्रम फैलानेवाली भ्रामक, जादुई भाषा जानता है वह उतना ही बड़ा पण्डित, ज्ञानी और सन्त है। इस वाग्जाल में साधु, सन्त, धर्माचार्य ही नहीं साहित्य के आचार्य भी सिद्धहस्त हैं। जो जितना बड़ा वाग्जाल फैला सकता है, भ्रम पैदा कर सकता है वह जादुई यथार्थवाद का पण्डित है। प्रेमचन्द की लघुकथाओं में ऐसे सूत्र, बीज-वाक्य मौजूद हैं, जहाँ लघुकथा के भीतर एक नई कथा का जन्मान्तरण होता है। क्या यही आज साधु, सन्त, महात्मा, विद्वान बनने का 'गुरु-मन्त्र' नहीं है? अन्त में वह ढोंगी साधु जो इस कला में पारंगत नहीं है, वह गाँजा पीनेवाले साधुओं द्वारा पकड़ लिया जाता है। वह साधु ही कैसा जो भाँग, गाँजा न पीता हो! 'माया है संसार सँवलिया, माया है संसार'। माया को नकारनेवाले लोग ही मायावाद के शिकार हैं।

'गमी' में लेखक ने दिखाया है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए गमी के अलग-अलग अर्थ हैं। 'गमी' का पात्र गम में डूब जाता है जब उसे घर में तीसरे पुत्र के जन्म की सूचना मिलती है। वह मित्रों के पास 'गमी' का सन्देश भेजता है कि शायद घर में किसी की मृत्यु हुई है। लोगों के पूछने पर वह रहस्योद्घाटन करता है कि उसके आनन्द यानी सुखों की मृत्यु हुई है। वह उसका पालन-पोषण कैसे करेगा? शतरंज, ताश, चौसर कैसे खेलेगा? हालाँकि यह बोध तो उसे सन्तानोत्पत्ति से पूर्व होना चाहिए कि उसने ऐसा जोखिम लिया ही क्यों?

'राष्ट्र का सेवक' लघुकथा में लेखक ने उन समाज-सुधारकों, परिवर्तनकामी शक्तियों, राजनीतिज्ञों, बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य किया है जो समाज को समानता, समता, न्याय, सद्भावना का सन्देश देते हैं, जातिवाद की निन्दा करते हैं। पूँजीपतियों, सामन्तों, पाखण्डियों की आलोचना करते हैं, लेकिन भीतर से दोगले चरित्रवाले लोग हैं। उनके सिद्धान्त और व्यवहार में बहुत बड़ा अन्तर है। अपने घरों, परिवारों में वे यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं और समाज में वे क्रान्तिकारी उपदेश देते हैं। राष्ट्रसेवक की अपनी पुत्री जब उस प्रगतिशील विचारधारा के लड़के से ब्याह करने का प्रस्ताव रखती है तो वह घृणा से मुँह मोड़ लेता है। क्या

आज हमारे राष्ट्र में इसी तरह के अवसरवादी, दोगले, सिद्धान्तहीन प्रगतिशील क्रान्तिकारियों की कोई कमी है?

'देवी' में लेखक ने दिखाया है कि गरीब लोगों में नैतिकता, मानवीयता एवं करुणा कहीं अधिक होती है। एक अनाथ विधवा स्त्री कैसे कहीं से गिरे हुए दस के नोट को अन्धे भिखारी के हाथ में रखकर अचानक गायब हो जाती है। सही अर्थों में लेखक ने ऐसी लघुकथा लिखकर उस 'देवी के पावन पवित्र कदमों पर अपना सिर झुका दिया है।'

'बन्द दरवाजा' लघुकथा में लेखक ने दिखाया है कि हम कैसे बच्चों से उनका बचपन, मासूमियत, कल्पनाशीलता छीनकर उनके हाथों में खिलौने, उड़नेवाली चिड़िया नहीं, वरन् कागज-पैन थमा रहे हैं। हम उन्हें बच्चा नहीं बने रहने देना चाहते। हम उनकी जिन्दगी के दरवाजे बन्द करते जा रहे हैं। बच्चे के हाथ में पैन थमाना और बच्चे द्वारा उसे फेंक देना, क्योंकि उसकी सृजनशीलता के दरवाजे तो हमने बन्द कर दिए हैं।

'दूसरी शादी' रचना में लेखक ने दिखाया है कि पुरुष अपने सुखों के लिए पहली पत्नी की मृत्यु के बाद जब दूसरा विवाह करता है तो कैसे उसकी सन्तान के साथ सौतेला व्यवहार होता है और जब उसे उस नेकदिल, संस्कारशील लड़की की क्रूरता, निर्ममता, असंवेदनशीलता का आभास होता है तो वह पश्चाताप करता है कि यह वादा तोड़ने की सजा है जो उसने मृत्युशैया पर पड़ी नेक बीवी से उसके आखिरी वक्त में किया था। लेखक ने पुनर्विवाह की समस्या के उन पतनशील मूल्यों की आलोचना की है जहाँ हमारे व्यक्तिगत सुख-स्वार्थ परिवार के लिए बर्बादी का कारण बनते हैं।

'कश्मीरी सेब' लघुकथा में लेखक ने दिखाया है कि कैसे बाजार की नैतिकता दिन-ब-दिन खत्म होती जा रही है। व्यापार में भी विश्वसनीयता, नैतिकता, ईमानदारी जैसे मूल्यों का नाश होता जा रहा है। आप किसी पर भरोसा नहीं कर सकते। समाज में यह घृणित प्रवृत्ति यानी लूटने और मुनाफा अर्जित करने की अपसंस्कृति चरमोत्कर्ष पर है। कोई भी विभाग, संस्थान ऐसा नहीं है जहाँ छल-छद्म, झूठ, ठगी, बेईमानी, धोखाधड़ी न हो। हरेक के हाथ में खंजर है। व्यापार में जुबान का महत्त्व होता था, आज वह भी मिट रहा है। सर्वत्र धोखाधड़ी है। किसी पर यकीन करना मुश्किल हो गया है। व्यापार और बाजार तो अब अपनी नैतिक साख खोते जा रहे हैं। 'कश्मीरी सेब' लघुकथा इसी बाजार, व्यापार की नष्ट होती साख को उद्घाटित करती है।

'यह भी नशा, वह भी नशा' रचना नशे के भिन्न-भिन्न रूपों को स्पष्ट

करती है कि लोग भाँग पीना बुरा नहीं समझते, लेकिन मदिरा का नाम सुनकर नाकमुँह बनाने लगते हैं। नशा तो नशा ही है, वह चाहे भाँग, गाँजा हो अथवा विदेशी शराब। कहानी में दिखाया है कि विदेशी अफसर जब होली पर्व पर पण्डितजी के पास पहुँचता है तो उसे भाँग का सेवन कराया जाता है, जिसे वह बहुत प्रसन्नचित्त होकर पीता है। वहीं राय साहब जब अंग्रेज अफसर के बंगले पर पहुँचता है तो उसकी शराब से परहेज करता, उसकी दुर्गन्ध से पीड़ित नजर आता है। उसे लगता है कि विदेशी शराब पीकर पापयुक्त हो जाएगा। उसका धर्म-पुण्य समाप्त हो जाएगा। साहब सवाल करता है कि तुम्हारा पण्डित लोग बंग पीकर राक्षस क्यों नहीं होता? नशा तो नशा ही है, वह चाहे देशी बंग हो या विदेशी बंग! हम भारतीय संस्कृति की महानता का वर्णन करते हैं, लेकिन क्या भंग पीना, गाँजा पीना नैतिक, स्वीकार्य है और शराब पीना अनैतिक, अस्वीकार्य, निन्दनीय!

'जादू' लघुकथा में प्रेमचन्द ने दिखाया है कि कैसे पुरुष अपनी जादुई भाषा से स्त्री को छलता आया है। नारी उसके छल और छद्म को समझ नहीं पाती कि वह अपनी प्रेममयी रसपूर्ण बातों से स्त्री को अपना शिकार बनाता है। अपने फैलाए जाल में दाने बिखेरकर भाषा के जादू से उसे नियन्त्रित करता है। स्त्री उसे सन्देह से नहीं देखती। कहानी में स्त्रीत्ववादी विमर्श बनता है जब वह लड़की अपनी सखी को यह रहस्य बताती है—"मेरे पैरों पर सिर रखकर रोता था और कहता था, मैं मर जाऊँगा और जहर खा लूँगा।" "सच कहती हो! बिलकुल सच! यही तो वह मुझसे भी कहते हैं।" यानी स्त्री को पुरुष पर सन्देह करने की जरूरत है कि वह उसे भावनाओं में बहाकर अपने जाल में तो नहीं फँसा रहा? क्या यह उनकी पितृसत्तात्मक समाज की आलोचना नहीं है? स्त्री विमर्श के बीज-वाक्य इस रचना को सशक्त बनाते हैं।

प्रेमचन्द ने लघुकथा विधा को एक अलग पहचान प्रदान की तथा इस बात को प्रमाणित कर दिखाया कि बड़े लेखकों के सामने आकारगत विशालता अथवा लघुता के प्रतिमान कोई अर्थ नहीं रखते। वे महाकाव्यात्मक कोटि की रचनाएँ भी उसी कसाव से लिखते हैं और अपनी बात को चन्द वाक्यों, शब्दों में अभिव्यक्त करने की कला भी जानते हैं। क्या कबीर ने यह काम दोहा छन्द में नहीं कर दिखाया था? यह तो लेखक की सृजनात्मक प्रतिभा पर निर्भर करता है कि वह सीमित आकार, थोड़े शब्दों में कितनी बड़ी बात कह सकता है। प्रेमचन्द ने लघुकथा विधा को जो गरिमा और ऊँचाई प्रदान की, उसने अगली पीढ़ी के लेखकों के लिए नई जमीन तैयार कर दी तथा इसे एक स्वतन्त्र विधा के रूप में भी स्थापित कर दिया। कण में ही ब्रह्मांड, कतरे में समुद्र जैसी असीमता, गहराई प्रदान

की। इन लघुकथाओं के आलोक में आज हमें लघुकथा विधा का एक शास्त्र भी विकसित करने की जरूरत है जो इनके भीतर से ही पैदा होगा। इन लघुकथाओं पर स्वतन्त्र सांस्कृतिक विमर्श की जरूरत है। 'बाबाजी का भोग', 'राष्ट्र का सेवक' ऐसी ही लघुकथाएँ हैं जो अपने भीतर बहुत गहरे विमर्श समाहित किए हुए हैं। जरूरत आज इस विधा को नए परिप्रेक्ष्य में समझने एवं विकसित करने की है।

जगदीशचन्द्र मिश्र आठवें दशक के उन लघुकथाकारों में हैं जिन्होंने हिन्दी लघुकथा इतिहास में अपनी महत्त्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराई है। 'दो फोन : दो अदालतें' उनकी ऐसी ही लघुकथा है जिसमें उन्होंने बदलते हुए जीवन-मूल्यों, मूल्यहीनताओं को उजागर किया है कि कैसे शिक्षा संस्थानों, शोध केन्द्रों में शोध के नाम पर सेक्स, खुले यौन सम्बन्धों का धन्धा चल रहा है। माधुरी सत्य को छिपाने के लिए जिस झूठ का सहारा लेती है उससे घर की अदालत में माँ नौकरों को फटकारती है तथा पिता जो न्यायाधीश हैं, वे अपने चपरासियों को दण्डित करते हैं। इन दो अदालतों में अन्याय का शिकार बेकसूर वर्ग ही होता है। लेखक ने हमारी न्याय व्यवस्था को प्रश्नांकित किया है जो बेकसूर लोगों को ही कसूरवार ठहराती है। 'राज्याश्रय' लघुकथा में लेखक ने दिखाया है कि राज्याश्रय का प्रभामण्डल ऐसा है कि जो सिंह को पालतू बनने के लिए प्रेरित करता है। सिंह जब गजराज को बहुमूल्य राजकीय वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, महिमामण्डित पाता है तो उसकी आँखों में भी राज्याश्रय, राजकीय पद पाने का लोभ पैदा हो जाता है। सत्ता का 'राज्याश्रय', राजकीय वैभव, मान-सम्मान ही ऐसा है जो सिंह को भी प्रलोभित कर देता है। सिंहनी सिंह के इस प्रलोभन को देखकर फटकारती है कि 'सिंह कभी किसी के गुलाम नहीं होते, किसी का प्रभुत्व, वर्चस्व स्वीकार नहीं करते', तो वह उत्तर देना है—"यह राज्याश्रय भी संसार में कितनी बड़ी चीज है। यह संसार में ढेरों सम्मान, ऐश्वर्य देता है, संरक्षण देता है, यदि किसी तरह, आज मैं भी सिंह के बदले गजराज होता?" राज्याश्रय का प्रभामण्डल ही ऐसा होता है कि वह 'सिंह' को भी ललचाने, भरमाने, अपने जाल में फँसाने में कामयाब होता है। क्या आज इस देश की बड़ी-बड़ी क्रान्तिकारी सृजनात्मक प्रतिभाएँ गजराज नहीं बनती जा रहीं? सत्ताधर्मिता, सत्ताप्रियता, सत्तालोलुपता सिंह को भी 'श्वान' बना रही है। सिंहनी उसे फटकारती है—"नहीं, नहीं, सिंह के बदले गजराज नहीं, तुम राजा के श्वान होते।" यह है आज के राज्याश्रित लोगों की स्थिति जो सत्तामद में इतने गिर चुके

हैं कि उनके भीतर का सिंह (अन्तरात्मा, अन्तःकरण) भी मर चुका है। पालतू लोग अपनी अन्तरात्मा बेचकर राजकीय मान-सम्मान पाने के लिए 'श्वान' बनते जा रहे हैं! 'धूल-मिट्टी की परत' लघुकथा व्यक्तित्व-निर्माण को नए अर्थ प्रदान करती है कि हम धूल, मिट्टी, सोना, लोहा, पत्थर कुछ भी बनें, लेकिन कीचड़ और काई न बनें। मनुष्य लोहा, सोना, पत्थर सभी का सम्मिश्रण है। साथ ही उस पर मिट्टी, पानी की परतें भी चढ़ी हैं। गुरु उस शिष्य के सारे भ्रमों को दूर करता है कि "मिट्टी और पानी मिलकर कीचड़ हो जाते हैं और कीचड़ को जितना भी पीटो उतना ही नीचे दब जाती है, ऊपर नहीं उठ पाती, चाहे उसके भीतर सोना, लोहा क्या सब रत्न ही भरे पड़े हों।" अतः हम चाहे कुछ भी बनें, लेकिन कीचड़-काई कभी नहीं।

'स्त्री-पूजा' भी उनकी ऐसी ही रचना है जिसमें नारायण की प्रिया महामाया दीपावली की रात को प्रकट होकर प्रश्न करती है कि क्या तुमने अपनी स्त्री को इच्छित वस्त्र पहनने, स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने, आहार-विहार करने, इच्छित वस्तुओं को पाने की स्वतन्त्रता दी है? पुरुष से नकारात्मक उत्तर पाकर देवी महामाया उसकी भर्त्सना करती हुई कहती है कि "तुम कभी सम्पन्न, समृद्ध नहीं हो पाओगे, क्योंकि जिस परिवार में नारी स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर नहीं है वह सम्पन्न कैसे हो सकता है?" साथ ही व्यंग्य है कि हम उसे धन की देवी, ज्ञान की देवी, कला और संस्कृति की देवी तो मानते हैं, लेकिन उसे कभी सच्ची स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करते। स्त्री विरोधी समाज कभी भी अपनी स्त्री को स्वतन्त्र, आत्मनिर्भर, स्वत्वाधिकारों से लैस नहीं होने देता। फिर ऐसे परिवारों में महामाया लक्ष्मी की कृपा कैसे हो सकती है? 'अमृत की घूँट' में लेखक ने दिखाया है कि सन्तों, साधुओं, संन्यासियों, तपस्वियों के इस राष्ट्र में कहीं भी सच्चा सन्त नहीं मिलेगा। वह स्त्री अमृत की बूँदें उन्हें ही पिलाना चाहती है जो सन्त आत्मनिर्भर हो, किसी के भाग का न खाता हो। यह ऐसा अमृत है जो सच्चे सन्त को अमरत्व प्रदान करेगा और ढोंगी व्यक्ति की उसी क्षण मृत्यु हो जाएगी। इसी भय से कोई सन्त उस अमृत का पान करने के लिए आगे नहीं आता। लेखक ने व्यंग्य किया है कि आज समाज में सन्तों, ऋषि-मुनियों, योगगुरुओं, धर्माचार्यों की इतनी तादाद है और सब-के-सब दुर्गुणों के शिकार हैं। उस स्त्री के दिव्य तेज के सामने सभी की नजरें झुकी हुई हैं। अन्ततः वह स्त्री स्वयं उस अमृत को धारण कर उस स्वर्णकलश को पावन-पवित्र गंगा में विसर्जित कर देती है और तभी से गंगा पावन-पवित्र अमृततुल्य हुई है।

'गरीबी-अमीरी' लघुकथा को दो अपराधिनी स्त्रियों के प्रतीक में दिखाया है। पहली स्त्री गरीब, लाचार, पीड़िता है। वह अपना अपराध स्वीकार करती है। राजा उसे सड़क के चौराहे पर फटेहाल रूप में कोड़े सहने की दण्डाज्ञा सुनाता है। उसका नाम गरीबी पाकर सन्तुष्ट होता है कि उसका स्थान सड़कों-चौराहों पर भीख

माँगना, ठोकरें खाना है। दूसरी स्त्री सभ्य-सुसंस्कृत और रूप-सौन्दर्य की मूर्ति है। वह अपनी स्नेहासिक्त वाणी और शारीरिक भाषा से राजा पर अपना ऐसा जादू चलाती है कि वह उसका अमीरी नाम सुनकर उसे अपने राजदरबार में कैद कर लेता है। आज भी गरीबी असीम वेदना से कराहती सड़कों-चौराहों पर तड़प-सिसक रही है और अमीरी राजाओं की विलासिता का आनन्द बनी हुई है। यानी हमारी न्याय व्यवस्था गरीबों के लिए उत्पीड़नकारी है तथा अमीर लोगों को राज्याश्रय दे रही है। इन लघुकथाओं में जीवन का गहरा सच छिपा है।

'संसार का नियम' महज चार वाक्यों की लघुकथा है। संसार का नियम यही है कि 'चक्की की तरह दूसरों को पीसते भी रहो और चीखते भी रहो।' क्या आज दुनिया का यही नियम नहीं है कि चरित्रहीन लोग भी चरित्र निर्माण का उपदेश दे रहे हैं। 'आतिथ्य-लाभ' रचना मानवीय रिश्तों पर एक व्यंग्य है कि कैसे एक अतिथि आतिथ्य का लाभ उठाकर उस घर की मासूम लड़की सुधा, जो उसके लिए चाय- पकौड़ियाँ बनाकर लाती है, को ही पा लेना चाहता है। वह उसका हाथ पकड़ता है और पूरी निर्लज्जता से साथ निभाने को कहता है। वह लड़की चीखना चाहती थी, लेकिन न जाने किस भय, लज्जा, संस्कारों के कारण चीख भी न सकी। संस्कारशील होना भी आज संस्कारहीन लोगों के लिए संजीवनी बूटी है। 'भाई-भाई' लघुकथा फिल्मी कथा की तरह है। यह लघुकथा कोई बड़ा प्रभाव नहीं छोड़ती। पति की अनुपस्थिति में उस औरत का रात को आया प्रेमी जार भी चोर है और वह दूसरा चोर जो सामान चुराने आया है। दोनों एक-दूसरे को कुछ नहीं कहते, क्योंकि दोनों भाई-भाई हैं। वह औरत भी कुछ नहीं बोल सकती क्योंकि उसने भी चोर की तरह अपने घर में उसे संरक्षण दिया है। वह चीखेगी भी तो कैसे! सभी-के-सभी दोषी ही नहीं, अपराधी भी हैं। वह स्त्री भी जिसका घर भी और इज्जत भी दोनों लुटी हैं। 'मिट्टी के आदमी' रचना में व्यंग्य है कि कैसे शोषण, दमन, उत्पीड़न को चुपचाप सहना, मार खाना हमारी नियति बन चुकी है। इस लघुकथा में दो तरह के लोगों का वर्णन है। एक वे लोग जो दमन-उत्पीड़न को चुपचाप सहते रहते हैं। दूसरे वे लोग जो नष्ट होना तो जानते हैं लेकिन दमन-उत्पीड़न को स्वीकृति नहीं देते। पहली तरह के लोगों  से तो वे मिट्टी के बने निर्जीव लोग ही बेहतर हैं जो नष्ट तो होना जानते हैं। राजा के राज्य में जो प्रतिरोधहीन मुर्दे लोग हैं वे उन मिट्टी के बने लोगों से भी बदतर हैं। क्या आज हमारे देश का निरीह जन, शिक्षित जन इस प्रतिरोधहीन मुर्दा शान्ति से भरा हुआ नहीं है!

जगदीशचन्द्र मिश्र अपनी लघुकथाओं में ऐसे ही जन-विमर्श, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक विमर्श बनाते हैं कि कैसे राज्याश्रय ने लोगों को पालतू बना

दिया है। 'मिट्टी के आदमी' तो जन-विमर्श की सशक्त रचना है। यदि इसी प्रकार की जनोन्मुखी लघुकथाओं का विकास हो तो साहित्य समाज की मशाल अवश्य बनेगा। इन लघुकथाओं को जन-विमर्श, राजनैतिक विमर्श, सत्ता विमर्श के परिप्रेक्ष्य में पढ़ने, पुनर्पाठ करने की आवश्यकता है। 'धूल-मिट्टी की परत' व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण की उत्कृष्ट लघुकथा है कि इतिहास, समाज में हमारी भूमिका क्या होनी चाहिए! बहुत ही गहरे यथार्थ-बोध, जीवन-दर्शन को इन रचनाओं में देखा जा सकता है। ये लघुकथाएँ दोहों की तरह बहुत गहरी, व्यापक एवं मर्मस्पर्शी हैं। आज के इस उत्तरपूँजीवादी दौर में उन्हें नए परिप्रेक्ष्य में समझने की जरूरत है।

पंजाब के प्रगतिशील कवि अवतार सिंह पाश की पंक्तियाँ यहाँ द्रष्टव्य हैं—

*सबसे खतरनाक होता है, हमारे सपनों का मर जाना*
*न होना तड़प का कुछ, मुर्दा शान्ति से भर जाना।*

अयोध्या प्रसाद गोयलीयजी (1908-75) ने भी लघुकथा-लेखन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन्सानियत, हृदय परिवर्तन, शाने-मुफलिसी, गधे का विश्वास, इतवारवाले बाबूजी, नादिहन्द, सहृदयता का मूल्य, एक वे भी मुसाफिर थे, मित्र के लिए, लातों के भूत, प्रतिज्ञा न लेने की प्रतिज्ञा जैसी लघुकथाओं में उन्होंने सामाजिक मूल्यों को उभारा है। इनकी लघुकथाएँ सामान्य स्तर की हैं जिनमें कहीं-कहीं अखबारीपन भी झलकता है तथा जिन्दगी की पकड़ भी ढीली है। लघुकथा-लेखन में जो पहचान प्रेमचन्द, विष्णु प्रभाकर, जगदीशचन्द्र मिश्र, हरिशंकर परसाई जैसे लेखकों ने बनाई है, अयोध्या प्रसाद गोयलीय उस स्तर की लघुकथाएँ नहीं लिख सके हैं। 'इन्सानियत' रचना में उन्होंने राजनीति और मानवीय रिश्तों को रेखांकित किया है कि राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के कारण हमारे रिश्तों में कितनी भी कटुता क्यों न हो, कहीं-न-कहीं मानवीय रिश्तों की गन्ध अभी भी मौजूद है। यही इन्सानियत हमें जिन्दा रखे हुए है। 'हृदय परिवर्तन' लघुकथा गांधीवादी मूल्यों की स्थापना करती है कि कैसे जब व्यक्ति को अपने अपराधों का सही बोध होता है, उसकी सोई हुई अन्तरात्मा उसे कचोटने लगती है तो वह अनैतिकता, बेईमानी, भ्रष्टाचार का रास्ता छोड़कर सही राह पर लौट आता है। भिखारी का उसे यह कहना, "तुम रिश्वत नहीं लेते देवता, मैं आज तुम्हारा नमक खाकर अपने शरीर को पवित्र करूँगा।" भ्रष्टाचार के इस दौर में यदि समाज में ऐसा नैतिक विवेक पैदा हो जाए तो समाज का कायाकल्प सम्भव है। 'शाने-मुफलिसी' में लेखक ने मद्रास से दिल्ली तक के सफर को व्यक्त किया है कि कैसे हमारे समाज का सम्भ्रान्त वर्ग खोखली नैतिकता, शिष्टाचार को ओढ़े दूसरों पर अपनी प्रतिष्ठा की धाक जमाता है और कहानी के अन्त में समाज

के निम्न पात्र उसे उसकी औकात समझा देते हैं। बाहरी दिखावापन, बनावटीपन—कितना महँगा साबित होता है जब एक कुली, ताँगेवाला, उसे उसकी हैसियत समझा देता है। उसके फेंके हुए सिक्के को उठाते हुए वह गरीब व्यक्ति उत्तर देता है कि "हुजूर की शान में गुलाम ने तो एक लफ्ज भी बेअदबी का नहीं कहा।" सच्चाई यह है कि गरीब लोगों के साथ सारी बेअदबियाँ भी यही सम्भ्रान्त वर्ग करता है।

'गधे का विश्वास' लघुकथा व्यंग्य करती है कि इन्सानों की जबान पर तो भरोसा नहीं रहा, जबकि गधे की जबान पर भरोसा किया जा सकता है। आदमी की जबान का भरोसा नहीं रह गया। विश्वसनीयता, आत्मीयता जैसे मूल्य नष्ट होते जा रहे हैं। 'इतवारवाले बाबूजी' लघुकथा तो एक चुटकुलानुमा है कि सप्ताह बाद घर आनेवाले स्थानान्तरित पिता को उसके बच्चे द्वारा यह कहा जाना, 'माँ, इतवारवाले बावूजी आए हैं।' क्या एक नौकरीपेशा स्थानान्तरित पिता के बारे में बच्चे का व्यवहार ऐसा हो सकता है? इससे लघुकथा की गम्भीरता तो नष्ट होती ही है और साहित्य भी बाजारू स्तर का बनने लगता है। हालाँकि लघुकथा विधा में बहुत गम्भीर लेखन की परम्परा है। 'सहृदयता का मूल्य' कहानी में लेखक ने दिखाया है कि जीवन-मूल्यों, मानव-मूल्यों, सहृदयता में इतनी ताकत होती है कि वह अव्वल दर्जे के बेईमान व्यक्ति का भी व्यक्तित्वान्तरण करने की ताकत रखती है। उस बेईमान व्यक्ति ने न जाने कितने ही लोगों के साथ धोखाधड़ी की होगी, लेकिन उस व्यक्ति की सहृदयता को देखकर कि उसकी अस्वस्थ पत्नी के जेवर लेने से मना करने पर उसकी जीवनदृष्टि में जो बदलाव आया, खुद पर धिक्कार-सी आई कि वह उसके पैसे लौटाने के लिए विवश हो उठता है। यह है सहृदयता का मूल्य! जीवन में आदर्शों का महत्त्व। 'एक वे भी मुसाफिर थे' लघुकथा जीवन-मूल्यों पर केन्द्रित है कि जानवर, आदमी, फरिश्ता, खुदा, आदमी की हैं सैकड़ों किस्में। यानी इस दुनिया में इन्सान भी फरिश्ता, खुदा हो सकता है, इसकी मिसााल का वह जहीन पात्र है। 'मित्र के लिए' लघुकथा मित्रता जैसे मानवीय मूल्यों पर केन्द्रित है।

हमारे सम्बन्धों में कई बार ऐसे क्षण भी आते हैं जब कुछ भ्रान्तियाँ पैदा हो जाती हैं। यदि एक मित्र ऐसी गलती करे तो दूसरे का काम उसे क्षमा करना होता है, न कि आरोपण-प्रत्यारोपण करना। मित्रता में आरोपण-प्रत्यारोपण अच्छी चीज नहीं है। वह साहूकार कितनी बड़ी बात कहता है, 'वह मेरा मित्र है!' व्यंजना बहुत कमाल की है व्यंग्य से लबालब, मानो सीने में कील ठोंक दिया हो, 'वह मेरा मित्र है।' इसमें व्यंग्य भी है और मूल्यदृष्टि भी! 'लातों के भूत' रचना में गांधीवादी मूल्यों की आलोचना दिखाई देती है कि क्या हमें शोषकों के प्रति सहानुभूति

दिखानी चाहिए और प्रतिरोध नहीं करना चाहिए, चाहे वे हमारे खेतों को भी रौंद दें? वह व्यक्ति गधे से गांधीवादी ढंग से याचना करता है कि मेरे खेत को इस प्रकार निर्दयतापूर्वक मत उजाड़ो। और जब वह नहीं मानता तो मालिक उसे दण्डित करता है। पुत्र द्वारा प्रतिरोध किए जाने पर पिता उत्तर देता है, "जिनके हृदय ही नहीं है, उन गधों के लिए यही अचूक उपाय है। लातों के भूत बातों से नहीं मानते।" गांधीवादी मूल्यों, विचारधारा की यहाँ आलोचना साफ दिखाई देती है। 1955 में प्रकाशित यह रचना उस दौर की गांधीवादी बहसों पर एक प्रतिक्रिया या टिप्पणी है। 'प्रतिज्ञा न लेने की प्रतिज्ञा' भी एक बेहद सामान्य लघुकथा है जिसमें हजरत साहब, जो बहुत शराब पीते थे और एक जैन मुनि के तप-तेज से प्रभावित होकर प्रतिज्ञा लेते हैं और प्रतिज्ञा के बावजूद मदिरा सेवन जारी रखते हैं। जैन साधु द्वारा पूछे जाने पर कि प्रतिज्ञा के बावजूद मदिरापान का परित्याग नहीं करते हो तो वह उन्हें उत्तर देता है कि मैंने तो महाराज प्रतिज्ञा न लेने की प्रतिज्ञा की है, न कि शराब छोड़ने की प्रतिज्ञा। समाज में ऐसे भी चुहलबाज, फब्तियाँ कसनेवाले लोग हैं जो जीवन में पूरी तरह से सिद्धान्तहीन एवं मूल्यहीन हैं।

अयोध्या प्रसाद गोयलीयजी की लघुकथाएँ पाठक पर कोई गहरी छाप नहीं छोड़तीं। कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तरों पर सामान्य कोटि की हैं। इन लघुकथाओं में उस दौर की गांधीवादी बहसों का गहरा प्रभाव है और गांधीवादी आस्थाओं, मूल्यों की आलोचना भी है। गांधीवादी विचारधारा के सही परिप्रेक्ष्य के अभाव में ऐसी कमजोर रचना ही अस्तित्व में आती हैं। आज गांधीवादी चिन्तन में एक नया बदलाव आ रहा है, जिससे गांधी एक बार फिर पुनर्पाठ के बहाने इतिहास के केन्द्र में हैं। इसीलिए इन रचनाओं को भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझने की जरूरत है।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'जी (1906-1995) ने लघुकथा-लेखन की दिशा में बहुत ही सार्थक काम किया है। इनकी लघुकथाएँ जीवन के अनेक प्रश्नों, चुनौतियों को उभारती हैं। 'संसार की साक्षी' उनकी महज 22 पंक्तियों की लघुकथा है जिसमें उन्होंने शक्ति के सिद्धान्त को दिखाया है कि दीमक महीनोंभर की कड़ी मेहनत से अपने लिए बाम्बी बनाते हैं और उसमें रहता है घुसपैठिया साँप, जो वहाँ रहता ही नहीं है उसके बच्चों सहित तमाम दीमकों को भी अपना शिकार बना लेता है। उस बाम्बी के बाहर एक बुढ़िया का अपने बच्चे को यह कहना, "हाथ जोड़, नाग-देवता की बाम्बी है यह!" 'शैतानियत से मुस्कराता साँप दीमक की ओर देख रहा था और दीमक दुःख और क्षोभ से अधमरा हो उस बुढ़िया की ओर देख रहा था।' यानी दमन, हिंसा को सामाजिक स्वीकृति मिलना। शक्तिशाली वर्ग कमजोर, शक्तिहीनों

के स्वत्वाधिकार छीन रहे हैं और लोग इसका प्रतिरोध करने की जगह शक्ति का समर्थन कर रहे हैं और शक्तिहीन कमजोर वर्ग दुःख और क्षोभ में डूबा ऐसे यथास्थितिवादी लोगों का मुँह ताक रहा है।

'किसके चरणों में' में लेखक ने यह दिखाया है कि प्रतिरोध करनेवाली सृजनशील ताकतें शक्तिशाली, वर्चस्ववादी लोगों के समक्ष लाचार होती जा रही हैं। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रतीक पत्रकार किस प्रकार राजनेताओं, जिलाधीशों, सरकारी वकीलों, प्रधानों द्वारा खुद को निहत्था पाता है और कहानीकार ने अन्ततः यह सवाल भी उठाया है कि वह किसकी सेवा में अपनी भूमिका निभाए? जन के प्रति अथवा सत्ता और शक्ति के प्रति? उसकी संवेदना किनके प्रति समर्पित है? सत्ता पत्रकारों, बुद्धिजीवियों को कैसे दिग्भ्रमित करती है तथा उनकी अभिव्यक्ति की आजादी को बाधित करती है, इन मुद्दों पर हमारे संस्कृतिकर्मियों, पत्रकारों को खुद तय करना है कि वे किनके साथ हैं?

'मध्यस्थ' लघुकथा में भी लेखक ने पुरुष को शक्ति, वर्चस्व, प्रभुत्वशाली विचारधारा का प्रतीक दिखाया है और स्त्री को सेवा की सुरभि, समर्पिता! पुरुष शक्ति, वर्चस्व का प्रतीक है और जब नर-नारी दोनों सन्तुलित नजरिया अपनाते हैं तो (शक्ति का सौन्दर्य में विलय) जीवन में मानवीय रिश्तों में स्वस्थ बदलाव आता है।

'तीन गुच्छियाँ' रचना निम्न वर्गों की लाचारियों को सामने लाती है कि कैसे सम्पन्न वर्ग पीड़ितों, वंचितों की लाचारियों का नाजायज लाभ उठाता है। जब तक सम्भ्रान्त वर्ग में इनके प्रति संवेदना, करुणा पैदा नहीं होती तब तक इनके जीवन में परिवर्तन नहीं आ सकता। मामूली-सी भी सहायता, संवेदना, करुणा, दया, ममता से इनकी अँधेरी दुनिया में एक नई चमक पैदा हो जाती है। इन लोगों के छोटे-छोटे सपने हैं। छोटी-छोटी इच्छाएँ। बताशे पाकर ही वे कितना खुश हो जाते हैं। निम्न वर्गों के प्रति बहुत गहरी संवेदना—इनकी लघुकथाओं को सशक्त बनाती है।

'प्रश्नोत्तर' कहानी में मिश्रजी ने यह सवाल उठाया है कि कैसे कार्यालयों, निजी क्षेत्रों में बॉस, ठेकेदार, मालिक अपने कर्मचारियों के साथ गुलामों जैसा व्यवहार करते हैं। तभी तो वह व्यक्ति कह उठता है—"इस नौकरी से समाज में इन मजदूरों की अपेक्षा हमारी कितनी प्रतिष्ठा है, पर दफ्तर में तो रोज जूते ही खाने पड़ते हैं।" दूसरी ओर मजदूर लोगों में अपने स्वावलम्बन, स्वत्वाधिकारों, आत्म-सम्मान का बोध होता है। वे संघर्ष भी करते हैं और दूसरी ओर मध्य वर्ग रोज जूते भी खाता है और अपनी अन्तरात्मा को मारकर, अपमान को सहकर नौकरी भी करता है। यह नौकरी है या गुलामी, लघुकथा इसी मसले पर 'एक सवाल' है जिससे हम सभी को निपटना है।

मध्यवर्ग यथास्थितिवादी होता है, वह प्रतिरोध करने की ताकत नहीं रखता। वह पीड़ित एवं विक्षुब्ध तो है, लेकिन आत्म-सम्मान को बचाने के लिए संघर्ष नहीं करता। मजदूरों में यह चेतना अधिक प्रखर एवं प्रतिरोधमूलक होती है। मजदूर वर्ग की चेतना और मध्यवर्गीय चेतना में मूल अन्तर यही है कि मजदूर वर्ग के पास खोने के लिए क्या है सिवाय अपनी बेड़ियों के और मध्य वर्ग के पास खोने के लिए कुछ भी नहीं। यही उसकी चेतना की दरारें हैं कि वह इतिहास में कमजोर, लाचार, आत्माविहीन, रीढ़विहीन वर्ग साबित हुआ है। आर्थिक सुरक्षाओं के लिए छटपटानेवाला वर्ग क्रान्तिकारी कैसे हो सकता है, यही इस लघुकथा का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिस पर विचार करने की आवश्यकता है।

'वे दोनों' लघुकथा पुरुष और स्त्री मनोविज्ञान को सामने लाती है कि पुरुष कठोर (संवेदनहीन) है तो स्त्री कोमल, संवेदनशील। जब पुरुष स्त्री के इस गुण को महत्त्व देने लगता है तभी स्त्री उसकी कठोरता को भी आत्मसात कर लेती है। पुरुष कोमलता को ही धारण करता है क्योंकि उसका लिंग-वर्चस्व (प्रभुत्व) नारी पर अपना अधिकार जमाता है। रचना के अन्त में पुरुष उसे अपने भुजपाश में बाँधता दिखाई देता है। क्या यह पितृसत्तात्मक शक्ति वर्चस्व का प्रभुत्वशाली सिद्धान्त नहीं है?

'पुरस्कार और दान' रचना में लेखक ने दिखाया है कि पुरस्कार और दान-अनुदान के पीछे भी सत्तावर्चस्व की विचारधारा काम करती है कि किन्हें पुरस्कृत करना है, किन्हें दण्डित? दान-अनुदान के हकदार भी वही लोग होते हैं जो सत्ताधर्मी, सत्ता के सेवक, चाटुकार लोग होते हैं। मजदूरों, श्रमिकों को न कोई पुरस्कृत करता है, न ही वे दान-अनुदान ही पाते हैं। सेठजी इस रचना में मजदूरों के साथ जो सलूक करते हैं वह सत्ता और प्रभुत्वशाली वर्ग की विचारधारा से बखूबी समझा जा सकता है। मिश्रजी की लघुकथाएँ बोलती कम हैं, पूछती बहुत अधिक हैं, यही इनकी रचनाओं की ताकत है। समाजवादी विचारधारा के सूत्र इन लघुकथाओं में यत्र-तत्र-सर्वत्र मौजूद हैं।

'सुराही और प्रतिमा' में श्रेष्ठ कौन है—सुराही जो हमें शीतल जल प्रदान कराती है, हृदय को शान्त करती है, प्यास बुझाती है अथवा वह सरस्वती की प्रतिमा जो थोड़ी खण्डित भी हो चुकी है। सुराही में यदि सुराख हो तो वहाँ आटा लगाया जा सकता है तो क्या मूर्ति यदि खण्डित हो तो उसमें आटा नहीं सँटाया जा सकता? यही एक सवाल है जो हमारी धार्मिक, सांस्कृतिक आस्थाओं, परम्पराओं पर सवाल उठाता है।

'एक प्रश्न' ऐसे निम्नमध्यवर्गीय व्यक्ति का सपना है कि जो 'क्लर्क' से

हेडक्लर्क यानी छोटे बाबू से बड़ा बाबू बन जाना चाहता है, जिसकी जिन्दगी में कोई मौजमस्ती नहीं, जो सम्पन्न अधिकारियों, मालिकों में होती है। वह दफ्तर से घर ऐसे पहुँचता जैसे अपनी 'माँ के फूल हरिद्वार लिए जा रहा हो।' क्या उसकी जिन्दगी में कभी खुशी, मौजमस्ती, सन्तुष्टि, आनन्द आ सकेगा? यह पूँजीवाद है जो मनुष्य के सृजन के आनन्द को छीनकर उनमें परायापन, बेगानापन, अलगाव, निराशा, ऊब, उदासी भरता है। क्या इस देश का निम्न वर्ग, निम्नमध्य वर्ग इसी एक प्रश्न से नहीं टकरा रहा है? मिश्रजी की यह टकराहट, बेचैनी, पीड़ा, करुणा उनके बड़े रचनाकार की साक्षी है।

'नन्दा' लघुकथा में भी लेखक ने दिखाया है कि कैसे सम्पन्न लोग धार्मिक अन्धविश्वासों में फँसे हैं जो भूखे व्यक्ति को अन्न तक नहीं देते, जबकि हनुमानजी के बन्दरों को शुद्ध घी के पूड़े खिलाते हैं। भूखा व्यक्ति गिड़गिड़ाता है लेकिन उसकी सहायता वह सेठ नहीं करता और हनुमान के बन्दरों को मीठे पूड़ों का थाल खिलाता है। लौटने पर उस गरीब व्यक्ति को मृत रूप में पाता है। हमारी धर्मान्धता पर लेखक ने बहुत गहरा व्यंग्य किया है कि धर्म के नाम पर सेठों के पास अरबों रुपया दान के लिए है, जबकि पीड़ितों, वंचितों के प्रति उनमें कोई करुणा, मानवीयता नहीं है।

'इंजीनियर की कोठी' में लेखक ने माली के माध्यम से बहुत गहरी बात कही है कि "सरकार, अपने बादवालों के लिए आप भी कोई पेड़ लगा दीजिए।" यानी हम दूसरों के लगाए पेड़ों के फल तो चखते हैं, अतीत का खूब लाभ उठाते हैं, लेकिन भविष्य के लिए कोई अच्छा काम नहीं करते। हम दूसरों के कर्मों, मेहनत का फल भोगने में विश्वास करते हैं जैसे अपने बुजुर्गों की कमाई खाते हैं, लेकिन अगली पीढ़ी के लिए हम क्या बो रहे हैं? वह माली अपने इंजीनियर साहब को यही सन्देश देता है कि आपने जो फलाँ-फलाँ फल चखे हैं, वे सब हमारी पहली सरकार के साहबों के लगाए हुए हैं। 'जाने क्या बात है सरकार कि इस कोठी में किसी को अपने लगाए पेड़ का फल नहीं मिलता' यानी पूरी दुनिया इसी विकास पर टिकी है कि पूर्वजों की मेहनत हमारे लिए फल है, लेकिन क्या हम दूसरों के भविष्य के लिए कुछ कर रहे हैं? उनके लिए हम क्या कर रहे हैं? भावी भविष्य के निर्माण में हमारी क्या भूमिका है? पूर्वजों के परिश्रम का फल भोगते हुए उस शानदार विरासत का हम कितना और कैसा विकास कर रहे हैं? इन लघुकथाओं में लेखक का जीवन-दर्शन, जीवन-दृष्टि, जीवन-मूल्य और जीवन-बोध बहुत ही खूबसूरती से व्यक्त हुआ है। लेखक के पास जीवन की गहरी समझ है, इसीलिए वे इतनी सशक्त लघुकथाओं का सृजन कर सके हैं। भाषा-पक्ष की दृष्टि से भी ये लघुकथाएँ बहुत ही सशक्त बन पड़ी हैं।

विष्णु प्रभाकरजी ने लघुकथा को जो गरिमा प्रदान की है, उससे हिन्दी लघुकथा ने एक पृथक् विधा के रूप में अपनी पहचान बनाई है। उनकी लघुकथाएँ बहुत गहरे मानवीय सरोकारों से जुड़ी हैं। 'फर्क' लघुकथा में प्रभाकरजी ने दिखाया है कि भारत-पाक सीमा पर फौजी सैनिकों के बीच प्यार और तनाव साफ दिखाई देता है। ईद के पावन-पवित्र त्योहार पर सैनिक हाथ मिलाते, मुबारकबाद देते हैं, लेकिन साथ मिल-बैठकर चाय पीने के प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं। मात्र ऊपरी शिष्टाचार तक महदूद हो चुके हैं हमारे सम्बन्ध। लघुकथा के अन्त में पाकिस्तान से कुलाँचें भरता बकरियों का दल भारत की सीमा में दाखिल हो जाता है तो पाकिस्तानी सैनिक मुस्कराहट से उत्तर देता है, "जी हाँ जनाब, हमारी हैं। जानवर हैं, फर्क करना नहीं जानते।" यानी हम मनुष्यों से तो वे बकरियाँ ही श्रेष्ठ हैं जो भौगोलिक सीमाओं, सरहदों के अन्तर, 'फर्क' को तो मिटाती हैं! मनुष्य से तो जानवर ही बेहतर जो इस फर्क को तो मिटा रहा है। काश! मिट जाय यह सरहदों का फर्क! इससे बड़ा कटाक्ष और क्या हो सकता है? भारत-पाक रिश्तों में यह फर्क कब मिटेगा? कब हम इन सरहदों के फर्क को मिटा सकेंगे? क्या यह फर्क मिट सकेगा? क्या हम ईद, दीपावली के अवसर पर परस्पर सच्चे दिल से एक-दूसरे से मिल-बैठकर चाय पी सकेंगे? यह रचना बहुत बड़े सवालों के साथ खत्म नहीं, वरन् शुरू होती है! 'ईश्वर का चेहरा' भी हिन्दू-मुस्लिम समाज के रिश्तों पर भावात्मक टिप्पणी करती है। हिन्दू और मुस्लिम खातून के बीच संवाद चलता है। वह मुस्लिम खातून और प्रभा एक-दूसरे से कैसे घुलते-मिलते हैं। सबीना जिस प्रकार उसे दुआएँ देती है तो प्रभा को लगता है कि "ईश्वर का कोई चेहरा होगा तो सबीना जैसा ही होगा।" मानवीय रिश्तों की इससे खूबसूरत कहानी और क्या होगी? एक कहानीकार ही इस पीड़ा, मर्म, संवेदना और मानवीयता को पहचान सकता है। 'पानी की जाति' भी एक ऐसी ही रचना है, जो हिन्दू-मुस्लिम रिश्तों का एक नया अध्याय रचती है। पानी की भी कोई जाति होती है? क्या मुसलमान के घर का पानी भी अशुद्ध, जातिवादी हो जाता है और ब्राह्मण का पानी पवित्र! एक हिन्दू जो अस्वस्थ है, जिसे बुखार चढ़ा है, प्यासा है, वह पानी या सोडा माँगता है तो लड़का उत्तर देता है कि वह मुसलमान है। वह उससे पूछता है कि तुम हिन्दू होकर हमारे हाथ का पानी पी सकोगे? वह गुस्से में उत्तर देता है, "हिन्दू के भाई! मेरी जान निकल रही है, जो कुछ हो लाओ।" यहाँ जाति को मिटाया गया है कि पानी की कोई जाति नहीं होती। जब वह व्यक्ति वहाँ उल्टी कर देता है तो वही मुसलमान अब उसके प्रति इतना दयालु हो उठता है कि उसके लिए अपने हाथ से शिकंजी बनाकर लाता है। उस हिन्दू लड़के का मन शान्त हो चुका था और

मन-ही-मन सोच रहा था कि यह पानी, जो वह पी चुका है, क्या सचमुच मुसलमान का था? यानी जातिवाद अभी पूरी तरह से टूटा नहीं है। वह हमारे रक्त, संस्कारों, अवचेतन में कहीं-न-कहीं मौजूद है। इसमें लेखक ने बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक समस्या को रेखांकित किया है कि क्या पानी की भी कोई जाति होती है? प्रभाकर की लघुकथाएँ मूलतः इसी गंगा-जमुनी तहजीब पर केन्द्रित हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता उनकी कहानियों का मुख्य नुक्ता है। 'इन्सान' लघुकथा में प्रभाकरजी दिखाते हैं कि आज भी इस दुनिया को चलानेवाली शक्ति इन्सानियत है। मानवीय सम्बन्धों का चाहे जितना भी लोप क्यों न हो जाए इस दुनिया में इन्सानियत खत्म नहीं हुई। जिस दिन वह समाप्त हो जाएगी दुनिया का वजूद भी मिट जाएगा। दूसरी ओर हमारी कानून व्यवस्था, पुलिस तन्त्र है जो उसके घावों की पैमाइश करने में जुटा है। अपराधी को दण्डित करने के लिए तफ्तीश की जाती है लेकिन वह वृद्ध न केवल रुपए लेने से इन्कार करता है, बल्कि उस ड्राइवर को भी क्षमा कर देता है। "उसका कोई कसूर नहीं है। मेरा बेटा बच गया। मुझे कुछ नहीं चाहिए।" इन्सानियत अभी जिन्दा है। 'चोरी का अर्थ' रचना में दुकानदार का यह कहना, "कोई गरीब आदमी अपनी ईमानदारी मेरे पास गिरवी रखकर पैसे ले गया है।" इस वाक्य में लघुकथा का दिल धड़कता दिखाई देता है। यही लघुकथाओं की खूबसूरती है कि 'चोरी का अर्थ' समझाने के लिए दुकानदार जिन शब्दों का प्रयोग करता है उसे उपरोक्त वाक्य में समझा जा सकता है। 'पश्चाताप' भी एक ऐसी ही रचना है जो हमारे अपराध-बोध को गहरे पश्चाताप, आत्म-समीक्षा में बदल देती है। एक विद्यार्थी स्कूल की प्रयोगशाला से चुराई गई तेजाब की बोतल को प्रिंसिपल के आगे रखकर अपने अपराध को स्वीकार करता है। वह दण्डित होना चाहता है, लेकिन महीनेभर वह उसका इस्तेमाल न कर सका, पश्चात्ताप की अग्नि में जलता, अपने अपराध को जलाता कुन्दनवत् होता जब उस अपराध को स्वीकार करता है तो इससे बड़ा बोध, दण्ड और क्या हो सकता है! उसकी अन्तरात्मा उसे कचोटती है जिसके कारण वह उसे इस्तेमाल नहीं कर पाता। अपराधियों में भी अपनी अन्तरात्मा को सुनने की आवाज होती है और जब वह उसे सुन लेता है तो उसका व्यक्तित्वान्तरण भी हो जाता है। 'तर्क का बोझ' में लेखक ने दिखाया है कि किस प्रकार लोगों में करुणा जगाने के लिए सड़कों, चौराहों, बसों, रेलगाड़ियों में लोग पेशेवर तरीकों से धन बटोरते हैं। करुणा से ही किसी को संवेदित-उद्वेलित किया जा सकता है। गरीब के पास करुणा सबसे बड़ा हथियार है। यह कमजोर का हथियार है जिसे हम सभ्य लोग छल-छद्म समझ बैठते हैं और सच्चाई का आभास होने पर तर्क का बोझ जैसे हमें धरती में गाड़ देता है। क्या सभी लोग जो

हमारी करुणा को जगानेवाले होते हैं ठगविद्या के माहिर, चतुर पेशेवर लोग ही होते हैं? करुणा को जगाने की यह कला भी कमजोर लोगों में होती है, लेकिन सभ्य लोग उन्हें सन्देह की ही दृष्टि से देखते हैं। 'तर्क का बोझ' इसी सम्भ्रान्तता को विखण्डित करती है।

'जाति या जान' भी प्रभाकरजी की सेक्युलर दृष्टि की उत्कृष्ट लघुकथा है जहाँ हिन्दू द्वारा मुसलमान से पानी माँगना और मुसलमान का अस्वीकार करना—"मैं मुसलमान हूँ। तुम हिन्दू हो और मैं तुम्हारी जाति नहीं ले सकता।" हिन्दू संकट में है, उसके प्राण निकल रहे हैं, वह कहता है, "भाई, मैं जाति की बात नहीं कर रहा, जान की कर रहा हूँ। तुम जान तो नहीं लोगे। मुझे पानी दो। नहीं तो मैं मर जाऊँगा।" उसके वाक्यों में जो करुणा है वह मुसलमान की कट्टरता को भी ध्वस्त कर देती है और वह उसे मुँह धोने के लिए पानी देता है और पीने के लिए शरबत। यह है मानवीय रिश्तों का भीतरी सच। सियासत हमें कितना भी भेद-भाव करना क्यों न सिखाए लेकिन हिन्दू-मुसलमान अलग-अलग नहीं, न हो सकते हैं। इस तरह की लघुकथाएँ प्रभाकर को प्रेमचन्द, भीष्म साहनी की परम्परा में खड़ा करती हैं। इन लघुकथाओं को बड़ी रचनाएँ कहा जा सकता है। साम्प्रदायिक ताकतें चाहे कितनी भी शक्तिशाली क्यों न हों, समाज में सेक्युलर, धर्मनिरपेक्ष, मानवतावादी परम्पराओं को कोई नष्ट नहीं कर सकता। 'भगवान् और पुजारी' लघुकथा में दिखाया है कि कैसे वर्चस्ववादी शक्तियाँ निम्न जातियों के धार्मिक अधिकारों को छीनती हैं। उनका मन्दिरों में प्रवेश वर्जित है। जब वही दलित-अछूत अपनी एकनिष्ठ भक्ति से प्रभु के साकार दर्शन कर लेता है तो वह प्रभु से इच्छा करता है कि उसकी उस मन्दिर में जाने की कामना कब पूरी होगी! प्रभु हँसते हुए कहते हैं, "वहाँ जाकर क्या करोगे? हजारों वर्ष बीत गए, मैं भी वहाँ नहीं गया हूँ।" आज भी वह पुजारी प्रभुहीन मन्दिर के द्वार बन्द किए बैठा है। यह हमारी वर्चस्ववादी, प्रभुत्वशाली, ब्राह्मणवादी, पुरोहितवादी मानसिकता पर बहुत ही तीखा व्यंग्य है। व्यंग्य भी ईश्वर के मुख से कराया गया है। 'भगवान् और पुजारी' प्रभाकरजी की उत्कृष्ट रचना इस मायने में है क्योंकि दलित तो ईश्वर पा गया लेकिन वह मन्दिर का पुजारी आज भी प्रभुहीन मन्दिर की उपासना में द्वार बन्द किए है। अब तो वहाँ ईश्वर ने आना भी छोड़ दिया है।

'क्षमा' कहानी कर्तव्यपरायणता की ही सूचक नहीं बल्कि इसमें लेखक ने दिखाया है कि हिंसा को हिंसा से नहीं, प्रेम, करुणा, मानवीयता से जीता जाता है। वह युवक जिस रोमन कैथोलिक नर्स का जातिगत हिंसा के कारण सिर फोड़ता है, वही नर्स उसी घायल युवक का उपचार करती है। गांधीवादी मूल्यों की यह

लघुकथा यही प्रमाणित करती है कि हिंसा को हिंसा से नहीं जीता जा सकता। वह युवक जब उसके सामने अपने अपराध को स्वीकार करता है तो वह बताती है कि "मैं तुम्हें पहचानती हूँ, जिस क्षण तुम भीतर आए थे, तभी मैंने तुम्हें पहचान लिया था।" युवक को अहसास होता है कि "यह सब जानकर भी आपने मेरी इतनी सेवा की।" कहानीकार ने गांधीवादी मूल्यों को प्रतिष्ठित किया है कि जब तक जातिवाद का जहर समाप्त नहीं होता, समाज में एकता, संवेदनशीलता, मानवीयता पैदा नहीं हो सकती। कैथोलिक नर्स के माध्यम से रचनाकार ने जातिवाद को खारिज किया है तथा उस हिंसक व्यक्ति में हृदय परिवर्तन दिखाया है। उसे सोचने के लिए बाध्य किया है कि खून को खून से नहीं धोया जा सकता है। उसे करुणा, प्रेम, मानवीयता के जल से ही धोया जा सकता है। 'दोस्ती' रचना में दिखाया गया है कि कैसे इस प्रजातन्त्र में अपराधी, चोर-डकैत, माफिया, अपराधी, पुलिस अधिकारी, कर्मचारी, राजनेता सभी-के-सभी अपराधियों के संयुक्त परिवार हैं। वे सच्चे दोस्त हैं। इसीलिए डाकू विधायक को नहीं लूटते, बल्कि उसका सामान लौटा देते हैं। विधायक उनकी रिपोर्ट नहीं लिखाता, क्योंकि 'उसने मुझसे दोस्ती निभाई, मैं उससे निभाऊँगा।' यह है आज के युग का सच। इस रचना में मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' कविता मानो साकार हो उठती है। राजनीति का अपराधीकरण तथा अपराध का राजनीतिकरण इस कहानी का मूल स्वर है। विष्णु प्रभाकरजी की लघुकथाएँ प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुखी यथार्थ तथा गांधीवादी मूल्यों को स्थापित करती हैं।

हरिशंकर परसाई मूलतः एक व्यंग्यकार के रूप में विख्यात हैं, लेकिन उनकी लघुकथाएँ हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक यथार्थ को समग्रता एवं संश्लिष्टतापूर्वक अभिव्यक्त करती हैं। 'संस्कृति' लघुकथा में उन्होंने एक भूखे व्यक्ति के माध्यम से दिखाने की कोशिश की है कि एक भूखे व्यक्ति को संस्कृति (बाँसुरी) के गायन की आवश्यकता नहीं, वरन् रोटी की जरूरत है। मार्क्स यहाँ अधिक शक्तिशाली हैं। जो व्यक्ति पेट की भूख से गुजर रहा है उसे पहले रोटी की जरूरत है न कि संस्कृति और कला की। रंगीन आदमी उसकी भूख को संस्कृति (बाँसुरी के रागों) से मिटाना चाहता है और अन्ततः वह भूखा आदमी गुस्से में उठता है और उससे बाँसुरी झपटकर पास की नाली में फेंक देता है। यह है जीवन का सच कि हम पढ़े-लिखे लोग संस्कृति पर इतना ध्यान देते हैं कि मनुष्य के बुनियादी मसलों (भूख) को समझ ही नहीं पाते कि उसकी फौरी जरूरत क्या है? पढ़े-लिखे शिक्षित समाज (रंगीन व्यक्ति) पर इससे कड़ा व्यंग्य और क्या हो सकता है कि हमारा संस्कृति सम्बन्धी ज्ञान कितना थोथा, सतही और भोंथरा है कि हम

यह नहीं समझ सके कि आर्थिक आधार ही हमारी सांस्कृतिक अधिरचना को प्रभावित करता है। भूखे व्यक्ति को पहले रोटी चाहिए, उसके बाद उसके हृदय, मन-मस्तिष्क की भूख शान्त होगी। पहला आदमी उसे रोटी देना चाहता है और दूसरा रंगीन आदमी यानी सम्भ्रान्त वर्ग उसे बाँसुरी का राग सुनाना चाहता है, जिसे वह सुनने से इन्कार ही नहीं करता, उसकी बाँसुरी को नाली में फेंक देता है। सही अर्थों में लेखक ने एक संस्कृतिकर्मी होने के बावजूद संस्कृति को नकारा नहीं है, बल्कि इस तथ्य, सत्य को रेखांकित करने की कोशिश की है कि समाज में जो वंचित, पीड़ित भूख से सताए हुए लोग हैं उनकी मुक्ति के बारे में दो तरह के लोग हैं। एक वो जो उन्हें रोटी देने की बात करते हैं, दूसरे वे रंगीन लोग, कथित बुद्धिजीवी लोग जो संस्कृति का राग आलाप रहे हैं। अर्थ और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्धों की इससे खूबसूरत रचना और क्या हो सकती है जो संस्कृतिकर्मियों के संस्कृति सम्बन्धी अज्ञान की भी पोल खोल देती है। मार्क्सवादी चेतना का इससे खूबसूरत विमर्श, सांस्कृतिक विमर्श और क्या हो सकता है। संस्कृति स्वयं में एक बहुत बड़ा सांस्कृतिक-आर्थिक विमर्श है। इस लघुकथा का कलेवर इतना विशाल है कि लेखक ने समूचे मार्क्सीय विमर्श को मानो इस लघुकथा में समेट दिया हो। इतना विराट चिन्तन और इतनी सरल-तरल भावाभिव्यक्ति! यह लघुकथा आर्थिक आधार और ऊपरी संरचना (संस्कृति) के सम्बन्धों की जितनी खूबसूरती से अभिव्यक्ति करती है, यह परसाईजी के सांस्कृतिक-बोध का ही परिणाम है। 'जाति' भी उनकी ऐसी ही रचना है जहाँ अन्तर्जातीय विवाह की समस्या है हालाँकि दोनों उच्च जातियाँ हैं—ब्राह्मण और ठाकुर! लेकिन उनका मानना है कि विवाह होने से 'जाति' चली जाएगी। समझदार लोगों के समझाने के बावजूद कि दोनों बच्चे पढ़े-लिखे हैं, कि यदि शादी नहीं होगी तो चोरी-छिपे मिलेंगे, व्यभिचार बढ़ेगा, तो पण्डित और ठाकुर जो जातिवाद के मजबूत आधार स्तम्भ हैं, उनका कहना है—"होने दो! व्यभिचार से जाति नहीं जाती, शादी से जाती है।" जातिवाद इतना शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण है कि व्यभिचार भी वहाँ गौण हो जाता है। जाति शादी से जाती है, व्यभिचार से नहीं। लेखक ने यहाँ व्यभिचार पर चोट की है कि जाति नहीं जानी चाहिए, इसके लिए चाहे हम कितने भी असभ्य, अमानवीय, व्यभिचारी क्यों न हो जाएँ! जातियों के भीतर भी कितने गहरे समीकरण, स्तरीकरण हैं, इसकी कितनी गहरी परतें हैं जिन्हें तोड़ा नहीं जा सकता। 'सूअर' भी उनकी एक ऐसी ही व्यंग्यात्मक रचना है। 'सूअर' जिसे देखकर चौबेजी को घृणा होती है और वे पाण्डेजी की सुशिक्षिता कन्या के प्रस्ताव को ठुकराते हैं कि उनका घर गन्दी आबादी में है जहाँ सर्वत्र कूड़ा-कचरा, गन्दगी के ढेर हैं और सूअर

घूमते हैं। लेकिन मित्र द्वारा पचास हजार की धनराशि और जेवरों के प्रस्ताव को सुनकर वे उस विवाह के प्रस्ताव को ही स्वीकार नहीं करते, बल्कि उस 'सूअर' के बच्चे को देखकर अब उनमें घृणा पैदा नहीं होती बल्कि यह खूबसूरत भी लगने लगता है। "वेरी स्वीट!" यह है हमारी लाभ-लोभ की मानसिकता कि पूरे पचास हजार रुपए पाकर वे इतना गद्गद् हो उठते हैं कि पूरी बारात के बीच शामियाने में आया सूअर का बच्चा भी अब उन्हें खलता नहीं है। यह वही चौबेजी हैं जिन्हें सबसे ज्यादा नफरत सूअरों, गन्दी नालियों, गलियों से है और दहेज में पचास हजार रुपए नकद पाकर वे इतने बदल जाते हैं कि जहाँ शामियाने में विवाह की रस्में हो रही थीं, वहाँ थाली में नकद बकाया पैंतीस हजार पाकर वे इतने प्रफुल्लित हो उठते हैं कि वहाँ सूअर का बच्चा अब उनमें घृणा, जुगुप्सा भाव नहीं जगाता। मानवीय रिश्तों का व्यापारीकरण। जहाँ मुनाफा है, वहाँ सब-कुछ स्वीट है। यह पूँजी का खेल है जो घृणा को भी प्रशंस्य, स्वीटनेस में बदल देती है। मनुष्य का व्यवहार भी इसी पूँजी द्वारा नियन्त्रित है! अब वह गन्दी आबादी भी अचानक बुरी नहीं लगती, 'सूअर' भी खूबसूरत 'क्यूट', 'स्वीट' लगने लगता है। परसाईजी के पास जो कथा-कौशल है, वह अद्भुत है। वे एक ऐसे संस्कृतिकर्मी हैं जो पूँजी के खेल और उसके लीलाजगत को समझते हैं। 'यस सर!' भी उनकी ऐसी ही लघुकथा है जो अपने भीतर 'कण' में ही 'ब्रह्माण्ड' को धारण किए हुए है। एक लेखक मुख्यमन्त्री से मकान एलॉट कराने का प्रस्ताव करता है। ऊपर से नीचे तक समूची प्रक्रिया में 'यस सर' की स्वीकृति चलती है, लेकिन साल-डेढ़ साल बीत जाने पर भी जब उसे वह सरकारी मकान एलॉट नहीं हो पाता और मुख्यमन्त्री के पूछने पर वह लेखक उत्तर देता है, "जी हाँ, ऊपर से नीचे तक 'यस सर' हो गया।" परसाई भारतीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को उभारते हैं कि कैसे कागजी स्तर पर, मौखिक स्तर पर 'यस सर' होने के बाद भी उसे मकान नसीब नहीं हो पाता। यह एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ मुख्यमन्त्री, नौकरशाही, बाबुओं, अफसरों के आश्वासनों के बावजूद कोई काम नहीं हो पाता। साथ ही लेखक ने एक लेखक की सामाजिक स्थिति तथा सत्ता की लेखकों के प्रति छद्म सहानुभूति, प्रतिबद्धता को भी दिखाया है कि यह कैसा लोकतन्त्र है जहाँ लेखक के पास पढ़ने-लिखने, सोचने-विचारने, रहने के लिए एक घर भी नहीं है। सत्ता के छद्म मौखिक आश्वासन तथा लेखकों के प्रति सत्ता की संस्कृतिहीनता 'यस सर!' लघुकथा में उद्घाटित होती है। 'खेती' भी उनकी ऐसी ही प्रखर रचना है जो सरकारी तन्त्र की कृषि नीतियों के एक-एक अन्तर्विरोध को परत-दर-परत खोलती है।

परसाई समाजवादी विचारधारा के लेखक हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि

आलोचनात्मक एवं प्रखर है। जनविरोधी व्यवस्था के उस जनविरोधी चरित्र की वे पड़ताल करते हैं कि कैसे सरकारी आँकड़ों, तथ्यों और जमीनी वास्तविकताओं में आकाश-पाताल का अन्तर है। देश की उन्नति फाइलों तथा मीडिया की खबरों तक सीमित है।

एक फाइल है जिसे खाद्य विभाग ने अर्थ विभाग को, अर्थ विभाग ने कृषि विभाग को भेजा, कृषि विभाग ने उसमें बीज-खाद डाले और बिजली विभाग को भेजा, बिजली विभाग ने सिंचाई विभाग को, सिंचाई विभाग ने फाइल में पानी डालकर गृह विभाग और गृह विभाग ने पुलिस की मदद से खाद्य विभाग को सौंप दिया। इस प्रकार पूरी प्रक्रिया सम्पन्न होने तक दस लाख एकड़ फसल कागजों में पककर तैयार हो गई। यह है हमारी कागजों में, कृषि क्षेत्र में हो रही आत्मनिर्भरता की सही-सही तस्वीर जिसे देखते तो हम सभी हैं, लेकिन उस यथार्थ को अभिव्यक्त करने की कला तो परसाई जैसे संवेदनशील लेखक के पास ही होती है। 'रोटी' भी एक राजनैतिक व्यंग्य है जहाँ फरियादी लोगों की सुनवाई तो प्रजातन्त्र के शासक जहाँगीर की तरह खुद करते हैं, लेकिन उनकी रोटी की समस्या का समाधान उपसमिति गठित करके ही करते हैं। साथ में एक प्रार्थना भी करते हैं—'उपसमिति की रिपोर्ट प्रकाशित होने के पहले तू मरना मत।' आज के प्रजातन्त्र पर इससे तीखा व्यंग्य और क्या हो सकता है? समाज और राजनीति के सम्बन्धों पर इससे खूबसूरत लघुकथा और क्या होगी! सही अर्थों में ये लघुकथाएँ आकार में लघु अवश्य हैं, लेकिन इनकी भावभूमि, यथार्थ—बहुआयामी, बहुपरती एवं बहुअर्थी है।

'अनुशासन' रचना भी सत्ता के अनुशासन तन्त्र पर व्यंग्य करती है कि कैसे सत्ता ने एक ऐसा अनुशासन तन्त्र गठित किया है जिसका काम सामान्य जनमानस से लेकर अपने कर्मचारियों, प्राध्यापकों को अनुशासित, नियन्त्रित करना है। इस लघुकथा को पढ़कर फूको की सैद्धान्तिकी याद आती है—अनुशासित करो और सजा दो। इसमें अध्यापक अपने मुहल्ले के निवासी उच्च शिक्षा अधिकारी के पास मदद के लिए जाता है तो बदले में उसे वहाँ सीधे पहुँचने के कारण अनुशासनहीनता का दण्ड भी भोगना पड़ा, चेतावनी मिली और सजा कि उस मास्टर को दो महीने की छुट्टी पर जाना पड़ा। यह है हमारे प्रशासन तन्त्र की कानून व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, दण्ड व्यवस्था जो एक खास तरह का अनुशासन तन्त्र पैदा कर रही है; जिसका काम है, भय पैदा करना; दण्डित और अनुशासित करना। यह है प्रजातन्त्र का अनुशासन तन्त्र! 'देव-भक्ति' गणेशोत्सव पर एक धार्मिक व्यंग्य है। जहाँ सभी जातियों के अपने-अपने गणेशजी हैं। ब्राह्मणों के अलग, बनियों, ठाकुरों, तेलियों, कुम्हारों के अलग गणेशजी। विसर्जन के समय जब तेलियों के गणेशजी आगे

निकले तो ब्राह्मणों ने प्रतिक्रिया व्यक्त की, "तेलियों के गणेश की ऐसी-तैसी। हमारा गणेश सबसे आगे जाएगा।" यानी भगवान् भी सबके अपने-अपने हो गए हैं। जातिवाद कितना प्रचण्ड है कि तेलियों (निम्न जाति) का गणेश ब्राह्मणों के आगे कैसे निकल सकता है! वे तो गणेश की भी ऐसी की तैसी करने से नहीं हिचकिचाते। ईश्वर का भी जातिवादीकरण हो चुका है। ईश्वर तो ब्राह्मणों का ही सबसे आगे होगा। 'प्रथम स्मगलर' भी सत्तातन्त्र पर एक तीखा व्यंग्य है। हनुमानजी जो लक्ष्मण के लिए हिमाचल प्रदेश से संजीवनी बूटी ला रहे थे, अयोध्या के नाके पर स्मगलर समझकर पकड़ लिए गए। पिटाई भी हुई। मामला भरत और शत्रुघ्न तक जा पहुँचा। पूरा परिचय पाकर जब उन्हें ज्ञात होता है कि हनुमान स्मगलर नहीं, वरन् उनके भाई का परम भक्त है जो उनकी रक्षा के लिए संजीवनी लंका तक पहुँचा रहा है तो केस इसलिए वापस ले लिया जाता है कि वह अनैतिक धन्धा भी नैतिक बन जाता है। रजिस्टर का पन्ना भी फाड़ दिया जाता है। यह लघुकथा भी एक राजनैतिक व्यंग्य है। भाई-भतीजावाद से सारे अनैतिक काम भी नैतिक बन जाते हैं। भरत, शत्रुघ्न और अयोध्या नगरी भी उसकी चपेट में है। पूरा तन्त्र भ्रष्ट हो चुका है जो हनुमान को भी स्मगलर घोषित कर देता है। यह है हमारी कानून व्यवस्था, न्याय व्यवस्था और दण्ड व्यवस्था! 'बदचलन' लघुकथा में दिखाया गया है कि कैसे अब बदचलनी, चरित्रहीनता, अनैतिकता को भी स्वीकृति मिल चुकी है। एक बदचलन अधिकारी जब अपने परिवेश में सर्वत्र बदचलनी देखता है तो उसकी गरदन झुकने की जगह तनकर ऊँची होने लगती है। जहाँ सर्वत्र चरित्रहीनता की चरम पराकाष्ठा हो, वहाँ नैतिकता और अनैतिकता के बीच का अन्तर भी मिट जाता है और ऐसे चरित्रहीन अधिकारी अब समाज में गरदन ऊँची रखकर चलने लगे हैं। यह एक नई मूल्यहीन संस्कृति के प्रति स्वीकृति है। वह शरीफों के मुहल्ले में बदचलन व्यक्ति है, लेकिन धीरे-धीरे वह मुहल्ले के हर सदस्य के चाल-चलन की झूठी बातें फैला देता है। फिर एक दिन पड़ोसी द्वारा पूछे जाने पर कि वह अकेला क्यों रहता है, परिवार को साथ में क्यों नहीं लाता तो वह बदचलन व्यक्ति जो उत्तर देता है भीतर तक झिंझोड़ देनेवाला है—"अरे साहब, शरीफों के मुहल्ले में मकान मिले तभी तो लाऊँगा बीवी-बच्चों को!" यह एक बदचलन व्यक्ति की टिप्पणी है पूरे-के-पूरे शरीफ समाज पर कि अब तो कहीं शरीफों के रहने लायक मुहल्ला ही नहीं बचा! टिप्पणीकार खुद कितना शरीफ है! साथ-ही-साथ पूरे समाज की बुनावट पर भी एक सवाल है। शरीफों के मुहल्ले में बदचलन व्यक्ति पर जब सवाल उठते हैं तो बदचलन व्यक्ति पूरे आत्मविश्वास के साथ वहाँ की कथित बदचलनियों पर टिप्पणी करने से नहीं चूकता। बदचलन लोग अब शरीफों की शराफत पर भी सवाल उठाने लगे हैं क्योंकि बदचलनियों की खबरें

अब उनका मनोबल बढ़ा रही हैं। उनका सिर ऊँचा, और ऊँचा उठने लगा है। यह एक खतरनाक स्थिति है और उस पर परसाई की इतनी व्यंग्यात्मक टिप्पणी! 'बात' लघुकथा भी मध्यवर्गीय समाज को आईना दिखाती है कि कैसे यह वर्ग छलछद्म के साथ हर हथकण्डा अपनाते हुए मानवीय रिश्तों को भी तार-तार कर रहा है। हरिशंकर परसाई की ये लघुकथाएँ हमारे समय और इतिहास का वृत्तान्त बताती हैं तथा तेजी से बदलते इस उत्तरपूँजीवादी दौर की एक-एक परत को खोलती हैं। ये लघुकथाएँ हमारे युग, समय, इतिहास का सच प्रकट करती हैं। बदचलनी भी आज स्वीकृति पा चुकी है। बदचलन लोग अब सिर उठाकर चलने लगे हैं।

इन लघुकथाओं को पढ़कर कोई भी पाठक-आलोचक समझ सकता है कि ये ऐसी रचनाएँ हैं जो बड़े आकार, बड़े कैनवास पर लिखी रचनाओं को भी चुनौती देती हैं। इन्हें एक स्वतन्त्र विधा के रूप में पढ़ने की आवश्यकता है। प्रेमचन्द, जगदीशचन्द्र मिश्र, विष्णु प्रभाकर, हरिशंकर परसाई की लघुकथाएँ तो इतनी सघन, समग्र, संश्लिष्ट, बहुलार्थी, बहुपरती व्यंजनाओं से ओतप्रोत हैं कि इनका एक-एक वाक्य शिकंजे की तरह कसा हुआ है। एक भी शब्द अनावश्यक नहीं। पूरी-की-पूरी रचना इतनी नपी-तुली, रची-मँजी है कि लेखक ने जैसे कहानी का दिल निकालकर आपकी हथेली पर रख दिया हो। 'बदचलन' लघुकथा तो इस उपभोक्तावादी उत्तरआधुनिक दौर की बदलती मूल्यहीनता, अनैतिकता, चरित्रहीनता पर एक बहुत बड़ा सवाल है कि अनैतिकता भी क्या आज स्वीकृति पा चुकी है? हिन्दी लघुकथा की जो सृजनात्मक यात्रा है, इसके जो पड़ाव हैं उनकी परख भी हो चुकी है और कुछ होनी शेष भी है। जरूरत आज इस बात की है कि लघुकथा का जो इतिहास है उसे पुनः खँगाला जाए, इसका पुनर्पाठ हो, तभी इसका सही-सही चेहरा सामने आ सकेगा।

क्या इसे आकारगत लघुता के प्रतिमान पर आँकना उचित होगा? फिर आकारगत लघुता यानी शब्द सीमा निर्धारण का मसला उठ खड़ा होगा? क्या दो-चार वाक्यों में भी लघुकथा नहीं हो सकती? सूत्रात्मक बीज-वाक्यों की तरह एक लघुकथा के भीतर छिपी हुई अनन्त बीजोंवाली लघुकथाएँ? क्या ऐसी कोई सम्भावना नहीं है? ●

सम्पर्क : हिन्दी विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय,
भारत नगर चौक, लुधियाना (पंजाब)
मो. : 094170 59109
E-mail-drrakesh.ldh10@gmail.com

# धरोहर

# रमेश बतरा से गौरीनन्दन सिंहल द्वारा लघुकथा पर 1978 में लिया गया साक्षात्कार

(बीसवीं सदी के आठवें दशक में जब हिन्दी लघुकथा एक नए रूप में सामने आ रही थी, उस समय जिन लेखकों-सम्पादकों ने लघुकथा को बड़ी शिद्दत से उभारने का प्रयास किया, उनमें रमेश बतरा महत्त्वपूर्ण नाम है। उन्होंने रचना, आलोचना और सम्पादन के माध्यम से लघुकथा साहित्य के लिए मजबूत जमीन तैयार की। नए उभर रहे लेखकों को लघुकथा लिखना सिखाया अपने रचनात्मक लेखों द्वारा लघुकथा-क्षेत्र में फैले भ्रम दूर कर उसे परिपक्व दृष्टि प्रदान की तथा विभिन्न पत्रिकाओं-अखबारों में लघुकथा साहित्य की अनिवार्य उपस्थिति दर्ज कराई। रमेश ने 'तारिका', 'निर्झर' और 'सारिका' (बाद में 'सारिका टाइम्स') पत्रिकाओं तथा 'सण्डे मेल' साप्ताहिक पत्र के सम्पादकीय विभाग में रहते हुए लघुकथा की रचनाशीलता को स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

यह साक्षात्कार, जो संयोगवश हिन्दी लघुकथा पर लिया गया पहला साक्षात्कार है, बहुत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी आम तौर पर उपेक्षा का शिकार रहा है। 1978 में ही 'समग्र' के लघुकथांक का पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ, तो विशेषांक और पुस्तक में एक ही फर्क था। वह था—रमेश बतरा के इस साक्षात्कार को पुस्तक में स्थान न देना। सन् 1977-78 ई. में लिया गया यह साक्षात्कार उस समय नए रूप और उत्साह के साथ उभार में आई हिन्दी लघुकथा की सामर्थ्य और सीमा—दोनों का सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण करने के कारण एक दस्तावेज बन गया है। यहाँ रमेश बतरा को श्रद्धांजलि के रूप में हम यह बातचीत दे रहे हैं।—सम्पादक)

—लघुकथा की आवश्यकता क्यों और किसलिए पड़ी...? क्या कहानी से काम नहीं चल सकता?

सवाल-दर-सवाल किया जा सकता है कि मनुष्य को अपनी बात मुहावरों और लोकोक्तियों में कहने की जरूरत क्यों पड़ी? उसने अलंकार, प्रतीक, बिम्ब क्यों खोजे? सृष्टि में प्रथम क्षण से ही मनुष्य का स्वभाव रहा है कि वह अपनी बात

कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक आकर्षक ढंग से कहे, हर काम में किफायत करके अपनी क्षमता को बढ़ाना आदि ऐसे व्यवहार हैं जो हमारी जिन्दगी का अभिन्न बन गए। क्या आश्चर्य है कि इसका प्रभाव साहित्यकार पर भी पड़े!

नाटक, उपन्यास, कविता, कहानी...इसमें कोई दो राय नहीं हैं कि इनकी अपनी विधागत सीमाएँ होती हैं। एक कथानक कहानी के माध्यम से सम्प्रेषित नहीं हो पाता किन्तु नाटक में शिखर छूने लगता है। यह शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी कि शेक्सपियर ने नाटकों के स्थान पर वही कथानक लेकर कहानियाँ लिखी होतीं तो आज उसका कोई नामलेवा भी न होता।

—क्या लघुकथा स्वतन्त्र विधा है? इसका विधागत स्वरूप क्या होना चाहिए?

यह स्वतन्त्र विधा है या नहीं, इसके लिए यूँ ही मुँह उठाकर हाँ या ना कर देना पर्याप्त नहीं। अगर यह कहा जाए कि प्रथम चुनाव में स्वतन्त्र तो वस्तुतः विधा नहीं अपितु कथ्य होता है जो लेखक को बाध्य करता है कि वह उसे बेहतरीन ढंग से प्रतिपादित करने का माध्यम...विधा खोजे। वैसे भी विधा का जमाना अब लद गया है। बड़ा किताबी शब्द हो चुका है यह। इसने हमें फार्मूलेबाजी के सिवाय और कुछ नहीं दिया। हमेशा वही लोग सफल रचनाकार सिद्ध हुए हैं, जिन्होंने इस बीमारी के कीटाणुओं से परहेज रखा। यह खुशी की बात है कि आज कहानी की तरह लघुकथा के शास्त्रीय और अकादमिक आलोचक मौजूद नहीं हैं। इस क्षेत्र में युवा लोग ही कार्यरत हैं। बेहतर है कि हम रचनात्मक ढंग से इसको विधा जैसी कोई जड़ चीज में न बाँधकर, कथ्य के उचित माध्यम के रूप में स्वीकार करें। जो लोग विधा के नाम पर कोई गेंद पकड़कर 'स्टापू' खेलने लगते हैं, उनकी नीयत पर शक होता है कि वह खास तरह की गेंदियापी को विधा करार देकर मोहरिया लेखक बनना चाहते हैं।

—लघुकथा और लम्बी कहानी में तात्त्विक दृष्टि से क्या अन्तर है?

यह सवाल भी विधा के हावी होने का परिणाम है। मेरी समझ में तयशुदा तात्त्विकता तो स्थिरता ही पैदा करती है और फिर कला का ह्रास भी। फिर भी इसे लाख नकारने के बावजूद इस शब्द से लगता है छुटकारा नहीं। इसलिए यही कहना काफी होगा कि जिस सन्दर्भ में कहानी एक विधागत माध्यम बन चुकी है, लघुकथा भी इसी में निहित है। इन दोनों की रचना-प्रक्रिया में कोई अन्तर विशेष नहीं, अतिरिक्त इसके कि कथ्य बहुमुखी है तो उसे विस्तृत फलक पर लिख लिया और कथ्य किसी एक मनःस्थिति अथवा क्षण के व्यवहार आदि की तरफ संकेत करता है तो थोड़े में लिख लिया। यह उसी तरह का अन्तर है, जिसे एक लेखक

अपनी हर अगली रचना करते हुए महसूस करता है। एक ही विधा होने के बावजूद वह हर बार स्वतन्त्र ढंग से उसका इस्तेमाल मर्यादित ढंग से करता है।

—इसका तात्पर्य हुआ कि लघुकथा स्वतन्त्र विधा नहीं है?

ऐसा कहना इसके महत्त्व को नकारना है। कहानी और लघुकथा की अन्तर्धारा एक है, अब जैसे इंजीनियर एक ही करण्ट से बल्ब भी जला देता है, पंखा भी चला देता है और इंजन भी...जबकि यह तीनों एक जैसी चीजें नहीं। अपनी-अपनी जगह पर ये स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं, बस इनकी कार्यप्रणाली एक है। इसी तरह लघुकथा भी स्वतन्त्र इकाई है और आवश्यकतानुसार अपनी बात अपने ढंग से कहती है। कुल मिलाकर कथ्य और विधा दो ऐसे दोस्त हैं जो सम्बन्धों को लगातार सुमधुर बनाने में एक-दूसरे के व्यक्तित्व को और भी गरिमामय बना देते हैं।

—लघुकथा का औचित्य और उसकी भूमिका क्या है?

इस बारे में सोचते हुए हमें अब तक कही गई बातों को ध्यान में रखना पड़ेगा...ये पृष्ठभूमि का काम करेंगी। मेरी नजर में लघुकथा का औचित्य कहानी की पूरकता में है...और इसीलिए महत्त्वपूर्ण भी कि जहाँ आकर कहानी अपना काम खत्म करती है, लघुकथा का काम शुरू हो जाता है। मैंने पाया है कि कहानी में प्रायः जिन बातों पर आरोप लगता है कि ये महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद थोपी हुई प्रतीत होती हैं, लघुकथा में स्वतन्त्र इकाई का रूप लेकर एक व्यापक परिवेश से भी जुड़ जाती हैं। कहानी में अपने पात्रों से असम्पृक्त रहने की ईमानदार कोशिश में भी लेखक को 'अपना' बहुत-कुछ छोड़ देना पड़ता है, उस अपने की अभिव्यक्ति के लिए लघुकथा का माध्यम श्रेष्ठ है।

कहानीकार प्रायः कथानक के अनुरूप पात्रों को जन्म देता है अथवा पात्रों के आधार पर कथानक बुनता है। यह आसान काम नहीं...और शायद यही कारण है कि अधिकतर कहानियाँ कृत्रिमता या नाटकीयता का शिकार हो जाती हैं। इसके विपरीत लघुकथा में कथानक-पात्र आमने-सामने और अपने वस्तुगत रूप में होने की सम्भावनाएँ ही अधिक रहती हैं...इसलिए लघुकथा लिखना अपने आपमें जोखिम का काम भी है। इसी तरह डाकुओं में सभी भलेमानस भी हो सकते हैं और पुलिस में सब भ्रष्ट भी। कहानी में इस तरह की स्थितियाँ अत्यधिक विस्तार माँगती हैं अन्यथा इस मान्यता को स्वीकृति नहीं मिलती। फिर स्वस्थ दृष्टिकोण हमें इन स्थितियों पर कटाक्ष करने अथवा विडम्बनात्मक चित्रण करने की इजाजत तो देता है लेकिन मजाक अथवा दोषारोपण या इनसे असहायता की नहीं। लघुकथा में—अनुभव की तीव्रता—एक ऐसी विशेषता है जो इस प्रकार की

संवेदनाओं को प्रकट करने का जानदार माध्यम है। फिर जीवन जितना तीव्रतर होता जा रहा है उतना ही यह अधिकाधिक फैक्टर्ज में बँट रहा है और निश्चित रूप से जीवन के ये लघुतम टुकड़े ही अपने अहसासों के तहत लघुकथा को जन्म देते हैं। आदमी टुकड़े-टुकड़े ही जी रहा है और इस प्रक्रिया की प्रत्येक मनःस्थिति को तीर की तरह भोंका जा सकता है लघुकथा में उतना कहानी में नहीं; क्योंकि कहानी में इन मनःस्थितियों के व्यक्तिवादी होने या अजीब ढंग से उखड़ जाने का पूरा खतरा बना रहता है।

—इस प्रारूप में क्या कहानी और लघुकथा को अलग-अलग नहीं माना जा सकता?

एक जान दो शरीर के रूप में जरूर माना जा सकता है। अपने-अपने दायित्व में दोनों परस्पर पूरक हैं। कहानी जहाज है अतः एक कहानी का डूबना एक युद्धपोत का डूबना है। लघुकथा इसके साथ सुरक्षा नाव का काम करती है और दोनों मिलकर साहित्यिक समृद्धता को बढ़ाते हैं।

—लघुकथा और लघुकहानी को लेकर जो विभाजन की बहस चल रही है, इस बारे में आपकी क्या राय है?

यूँ नामों में ऐसा कुछ खास नहीं रखा रहता। 'रात की रानी' का नाम अगर 'अँधियारे का फूल' होता, तब भी वह सुगन्ध वैसी ही देता। फिर भी यह विभाजन अकारण नहीं उठा। अब तक के अनुभव से यही सामने आया है कि सही लघुकथा वस्तुतः अपने आपमें कहानी का ही विस्तार है। इसलिए भी और कुछ पौराणिकता की गन्ध के कारण भी कुछ लोगों ने इसे 'लघुकहानी' कहना ही बेहतर समझा। अपने तौर पर वे गलत नहीं हैं पर यह सही होना अब जबकि एक अरसे बाद आकर लघुकथा को मान्यता प्राप्त हो रही है, पाठक को कुछ भ्रम में अवश्य डाल देगा। नामों में सौन्दर्यबोध का होना भी जरूरी रहता है। इस नजरिए से अब जबकि लघुकथा नाम ही प्रचलित हो गया है तो इसे नई संज्ञा अथवा विशेषण की जरूरत नहीं। लेखक अपने कथ्य में परिष्कृतता लाकर आधुनिकता का पुट देते रहें, यही पर्याप्त है। और इसे कहानी से न अलगाना भी श्रेयस्कर है। जिन लोगों ने इसे चुटकुले, लोककथा, बोधकथा, जातक कथा या पौराणिक कथा से भिन्न आधुनिक मायनों में समझने की कोशिश नहीं की वे बुरी तरह से असफल हुए हैं।

—कैसे?

आठवें दशक की शुरुआत से ही अचानक कुछ ऐसे लोग उभरे जिनके हाथ श्रेष्ठ और सफल लेखक बनने का 'सस्ता और आसान' उपाय लग गया। उन्होंने पंचतन्त्र, हितोपदेश, बोध, जातक कथाएँ तथा पुराणों के उद्धरण लेकर उनकी

'टेपिंग' शुरू कर दी। किसी ने लघुकथा के नाम पर लतीफाबाजी की और किसी ने लघुकथा के नाम पर नकली, सतही और सामन्ती चिन्तन प्रस्तुत किया, इनके नाम पर कई पत्रिकाओं का प्रकाशन तक शुरू हुआ...गिनती बढ़ती गई, पर बन्दर आखिर कब तक टोपियाँ फेंकता...अब वे लोग कहाँ हैं, जिन्होंने फोटो छपवा-छपवाकर दावे किए थे कि उन्होंने पाँच सौ कथाएँ लिखीं और हजार लिखीं। यही वजह है कि लघुकथा को अपनी भरपूर क्षमताओं के बावजूद स्थापित होने में बला की देर लगी।

—इस नजरिए से तो लगता है लघुकथा का नितान्त अभाव है?

ऐसी कोई बात नहीं, वेदों में से लघुकथा ढूँढने की आवश्यकता ही क्या है? रामायण और महाभारत भी इस काम में किसी लाभ के नहीं हैं। क्योंकि कम-से-कम हिन्दी कहानी के जन्म से तो लघुकथा कभी अकालग्रस्त नहीं हुई। ज्यों-ज्यों प्रैस के प्रचार-प्रसार के साथ सलवटें खुल रही हैं हम पाते हैं कि न केवल हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी 'टोकरी भर मिट्टी' ही लघुकथा में प्रामाणिक अस्तित्व का दस्तावेज है अपितु हिन्दी के लगभग सभी स्थापित कहानीकारों ने भी लघुकथाएँ लिखीं। वास्तव में यह कमी ठीक वैसी ही है, जो हर जगह अधिकतम अच्छी रचनाओं के मामले में रहती है। जीवन की जटिलताओं ने इस दशक में इसकी आवश्यकता महत्त्वपूर्ण बनाकर उभारी है और अब इसका किताबी अभाव भी खत्म हो सकेगा!

—हिन्दी में लिखी जा रही लघुकथा की वर्तमान स्थिति और भविष्य क्या है?

हिन्दी ही क्या अन्य भाषाओं में भी बहुलता तो ऐसे रचनाकारों की ही है जो मात्र व्यंग्य की पुच्छल फिट किए रातों-रात देश के महान् लेखक बन जाना चाहते हैं। इन लोगों ने 'मन्त्रीवादी' और 'बैताली खोपड़ी' की रचनाएँ देकर जितना इस विधा का बेड़ा गर्क किया है और किसी ने नहीं। किसी भी चुटकुले में मन्त्री घुसा दो या किसी भी गप्प को—राजा विक्रमादित्य बैताल को उठाकर चल पड़ा—! से शुरू कर दो, इनके लेखे वही कथा हो जाती है।

इस गड़बड़ घोटाले में सम्पादकों का भी बहुत बड़ा हाथ है। खास तौर पर पेशेवर पत्रिकाओं ने इसका स्वरूप बिगाड़ा ही है और इसे गम्भीरता से न लेकर 'व्यंग्य-विनोद संस्करण' का रूप दे मारा।

हिन्दी में लघुकथा का भविष्य किसी भी अन्य भाषा की अपेक्षा कहीं उज्ज्वल है। इसका अनुमान आप पिछले डेढ़-दो साल में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपी लघुकथाओं से लगा सकते हैं। इसमें मौलिकता आ रही है और कथ्यों में

विभिन्नता भी। ये बहुमुखी भी हो रहे हैं। फिर बरसाती मेंढक ज्यादा वक्त नहीं टर्राया करते।

—इस पृष्ठभूमि में लघुकथा की विशेषताएँ क्या होनी चाहिएँ?

गोलियाँ खत्म होने पर संगीन की मुठभेड़-सा करतब लघुकथा बखूबी निभा सके। उसमें वही सौन्दर्य हो जो सेहरे के फूल में भी हो सकता है, कोट पर टँके फूल में भी और जूड़े में गुँथे फूल में भी...वह संवेदना जो चिता का फूल देता है...वह अहसास जो जंगल के फूल में होता है।

लघुकथा घटना नहीं बल्कि उसकी घटनात्मकता में से प्रस्फुटित विचार है, जो यथागत पात्रों के माध्यम से उभरे।

लघुकथा 'लोककथा' की तर्ज में सहज ढंग और सुलभ भाषा में लिखी जानी चाहिए। इससे इनके प्रसारित होने में सुविधा रहेगी और सामाजिक दायित्व को भी बेहतरीन ढंग से वहन कर सकेगी।

—क्या लघुकथा व्यंग्य तत्त्व के बिना लिखी जा सकती है।

खालिस व्यंग्य को लेकर भी यह मुद्दा जेरे बहस है कि—क्या व्यंग्य एक स्वतन्त्र विधा है? मुर्गी अण्डेवाली बात है...कौन पहले हुआ? कहानी और व्यंग्य सच में कुछ ऐसे ही हैं। व्यंग्य को नितान्त संकुचित अर्थों में लेनेवाले भले ही इसे अलग मानने की कुनबापरस्ती पालते रहें, परन्तु यह हर सूरत में एक-दूसरे से परस्पर निहित होने तक जुड़े हैं। ठीक यही स्थिति लघुकथा की भी थी। आत्मप्रवंचना, विडम्बना, परिवेशगत असंगतियाँ, कायरता, आक्रमण, मनःस्थिति, बेरोजगारी, क्रान्ति, अपराध, प्रेम, पलायन कोई भी तो स्थिति ऐसी नहीं, जिसे लेकर लघुकथा न लिखी जा सकती हो और यह कोई जरूरी भी नहीं कि व्यंग्य ही इसमें प्रमुख हो, बल्कि पिछले तीन-चार साल में तथाकथित रचनाकारों ने तो व्यंग्य के नाम पर जो कलाहीनता, चुटकुलेबाजी और गप्पगोष्ठी की है उसने लघुकथा की नैतिकता पर सन्देह पैदा कर दिया है।

—लघुकथा की सीमा रेखा यानी शब्द संख्या क्या हो सकती है?

पहला सवाल तो यह है कि इसे 'लघु' शब्द संख्या के आधार पर कहा जाए या कथ्य के आधार पर? कहानी के लिए प्रायः विद्वानों ने 1500 शब्द कम-से-कम निर्धारित किए हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि 1500 से कम शब्दोंवाली रचना लघुकथा हुई। परन्तु यह कोई ठोस मुद्दा नहीं। शायद यही वजह है कि कई लोग सौ-दो-तीन सौ शब्दोंवाली रचना को मिनी कथा कहने लगे हैं और इससे बड़ी को 'लघु', यह अत्यन्त हास्यास्पद स्थिति है। इसका फैसला कथ्य के आधार पर ही हो, तो बेहतर है और मेरा विश्वास है कि जो कथ्य थोड़े में कहे जाने की माँग

करता है, उसकी शब्द संख्या भी लगभग पच्चीस से हजार-एक शब्दों तक ही रह जाती है। अगर ऐसा न होता तो लघुकथा की जरूरत ही न महसूस होती...कहानी भी नहीं...उपन्यास ही लिखे जाते। तनिक पीछे भी लौटें और स्थितिगत अन्तर देखें...एक प्रेमी-प्रेमिका...उनकी शादी...एकाध बच्चा...दो-तीन साल में बहुत-सी घटनाएँ...शादी से पहले और बाद की तुलना...तलाक। यह तो हुई एक कहानी, अब जरूरी तो नहीं कि किसी के जीवन में ये तमाम घटनाएँ घटें। लोग इनमें से एक-एक विडम्बना का भी शिकार हो सकते हैं। इस सारे क्रम में एक-एक मनःस्थिति को अनेक तथ्यात्मक रूप में पकड़ें, तो वह विसंगति, विडम्बना अथवा जिजीविषा के रूप में उनके दाम्पत्य जीवन पर प्रकाश डालते हुए जो अहसास पैदा होगा...वह लघुकथा में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया जा सकता है... हिसाब लगाएँ। इसे कथ्य की समग्र मर्यादा में लिखने के लिए कितने शब्द चाहिएँ? हजार से ज्यादा किसी भी सूरत में नहीं।

—संक्षेप में लघुकथा क्या है?

जिन्दगी के वे छोटे-छोटे डर या सुख जिनकी बोझिलता से मुक्त होकर या उल्लास में मानव जिन्दादिल होना चाहता है। ये डर अन्तर्जगत के भी हो सकते हैं और बाह्यजगत के भी।

—आपकी सर्वश्रेष्ठ लघुकथा?

शायद कभी लिखी जाए। ●

('समग्र' के लघुकथा विशेषांक से साभार, सन् 1978 ई.)

# लघुकथा पर विष्णु प्रभाकर से अशोक भाटिया द्वारा 1986 में लिया गया साक्षात्कार

18 मई, 1986 को अजमेरी गेट, नई दिल्ली में श्री विष्णु प्रभाकर के निवास पर पहुँचा तो देखा, एकदम सादगी के माहौल में सादगी में लिपटा एक व्यक्ति गम्भीर मुद्रा में रचनाओं के बीच बैठा है। कुछ बातचीत के बाद हिन्दी लघुकथा पर उनसे बातचीत करने की इच्छा व्यक्त की। कोई सवाल करने से पहले उन्होंने परम्परा का महत्त्व बताने पर काफी बल दिया। उन्होंने कहा, "अरस्तू ने अग्नि और वायु (ऊपर जानेवाले) तथा जल और पृथ्वी—ये चार तत्त्व माने हैं। अब 120-25 तत्त्व माने जाते हैं। अरस्तू से न्यूटन व आइंस्टीन से होते हुए आज तक की खोज आपस में जुड़ी है, इसी तरह लघुकथा भी पहले से रही है। पहले दृष्टान्त के रूप में रही, लेकिन आज हम नैतिक मूल्य दिखानेवाली लघुकथा लिखें तो उसे नीतिकथा कहकर नकार देते हैं।

अ. भा. : हाँ, व्यंग्य-युक्त कथा को भी लघुकथा कहकर अलगाया गया है।

वि. प्र. : युग में अन्तर के साथ कथ्य में भी अन्तर आया है। लेकिन अच्छे मूल्य की लघुकथा क्यों नहीं हो सकती?

अ. भा. : जी हाँ, सिर्फ निगेटिव होना नाकाफी है। अच्छा, प्राचीन नीतिकथाओं और बोधकथाओं को भी आप लघुकथा ही मानेंगे?

वि. प्र. : निश्चित रूप से। अब खलील को तो बीट करने से रहा कोई। (उनकी 'सीपी' लघुकथा सुनाते हैं, फिर फूल पर अपनी लघुकथा कहते हैं)

अ. भा. : आपका लघुकथा-संग्रह 'आपकी कृपा है' मैंने पढ़ा है। उसमें कुछ रचनाएँ तो किसी स्थिति या घटना से शुरू होती हैं और उसी पर समाप्त होती हैं। लेकिन कुछ लघुकथाओं के अन्त में आप स्थिति या घटना के पूरा होने के बाद अपनी ओर से एक-दो पंक्तियाँ टिप्पणी के रूप में जोड़ते हैं। माफ कीजिए, लगता है कि इससे

रचना कमजोर...!

वि. प्र. : सम्भव है, अन्त में इसकी जरूरत न हो...। हमारा काल चौथा दशक है, इसलिए हम पर प्रेमचन्द युग का प्रभाव है। पर प्रेमचन्द की भी आदत रही है। पर इस कारण प्रेमचन्द को कोई छोटा तो नहीं मानता।

अ. भा. : नहीं, मेरा मतलब यह नहीं था।

वि. प्र. : तो एक युग-सापेक्ष दृष्टि होती है। आज लघुकथा की आवश्यकता थी, इसलिए आई। पर ये नहीं कि लघुकथा की जरूरत हुई तो पुरानी और लम्बी कथाएँ खत्म हो जाएँगी।

अ. भा. : सवाल यह है कि क्या आज की लघुकथा ने परम्परा से कुछ ग्रहण किया?

वि. प्र. : कलेवर ग्रहण किया। जैसे आज भाषा, शिल्प और कथ्य में अन्तर आने पर भी कहानी वही है। (चुप्पी)। पुराणों में एक जगह एक ऋषि कहते हैं कि अपने पुत्र से पराजय की कामना करता हूँ। मैं अपने शिष्य से पराजय की कामना करता हूँ।

अ. भा. : यानी परम्परा को आगे बढ़ाने की बात कही है।

वि. प्र. : आगे बढ़ाने की बात है। अच्छा, मैं ज्यादा नहीं बोल पाऊँगा वरना एसिडिटी का जोर पड़ने लगेगा।

अ. भा. : अच्छा, कुछ जरूरी सवाल हैं। चाहें तो संक्षेप में जवाब दीजिएगा। पिछले 15-20 सालों में लघुकथाएँ काफी लिखी गई हैं। अब हम मुड़कर इसकी कमजोरियाँ देख सकते हैं। आप कौन-सी कमजोरियाँ देखते हैं?

वि. प्र. : देखिए, जब कलेक्टिव रूप में बहुत लिखा जाता है, तब काफी कूड़ा-कर्कट भी आता है। पर बेहतर चीजें वक्त को चीरकर ऊपर आती हैं। आज कहते हैं कि लघुकथा यह है, तो ठीक है यह तो है; साथ ही पहले की भी रहेंगी, चाहे वो नीतिपरक हों, चाहे कोई और...(चुप्पी)। बहुत अच्छी लघुकथाएँ लिखी जा रही हैं, लेकिन बहुत-कुछ कूड़ा भी है। लघुकथा तो युग की आवश्यकता है।

अ. भा. : कई लघुकथाएँ अच्छे कथ्य उठाने के बावजूद कूड़े में शामिल होती रही हैं।

वि. प्र. : हाँ, ऐसी बहुत हैं।

अ. भा. : तो टेक्नीकल लिहाज से लघुकथा में सुधार की क्या गुंजाइश दिखाई

देती है?

वि. प्र. : कथ्य, शिल्प और भाषा—किसी भी रचना के तीन अंग होते हैं। इन तीनों में यदि हम सन्तुलन बना सकते हैं, तो रचना उतनी ही अच्छी होगी। जैसे संगीत में रस (कथ्य), औचित्य और संयम—तीनों का ठीक होना जरूरी है। पर आज विरासत में विद्रोह ही मिला, जो संयम का घोर शत्रु है।

अ. भा. : लघुकथा में नए प्रयोगों की कितनी गुंजाइश है?

वि. प्र. : बहुत गुंजाइश है। इसमें शब्द का बहुत महत्त्व है। शरतचन्द्र ने नारी के सौन्दर्य का वर्णन एक जगह यों किया है—यौवन जैसे उसके शरीर में ठहर गया था। इस तरह की सामर्थ्य तो हममें भी नहीं है, परन्तु ऐसे प्रयास होने जरूरी हैं। मुझे नयों से सबसे बड़ा शिकवा यह है कि वे पुरानों को पढ़ना नहीं चाहते। अब साधना नहीं रही।

अ. भा. : अच्छा, जैसे कविता के तत्त्व कहानी-लेखन में बड़ा सहयोग देते हैं, इसी तरह लघुकथा में अन्य अनुशासनों के तत्त्वों का उपयोग कहाँ तक हो सकता है?

वि. प्र. : हो सकता है।

अ. भा. : नाटकीयता का हो सकता है?

वि. प्र. : कुछ हद तक हो सकता है। लघुकथा के मसीहा तो नाटकीयता को मानते ही नहीं। इन तत्त्वों का प्रयोग लेखक की क्षमता पर निर्भर करता है। ●

# हरिशंकर परसाई से मुकेश शर्मा द्वारा लघुकथा पर 1993 में लिया गया साक्षात्कार

प्रश्न : लघुकथा का साहित्य में क्या स्थान है?

उत्तर : लघुकथा कथात्मक अभिव्यक्ति का लघुतम रूप है।

प्रश्न : लघुकथा के प्रारम्भिक काल के विषय में...?

उत्तर : पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि में लघु बोधकथाएँ हैं। पश्चिम में आस्कर वाइल्ड की लघुकथाएँ हैं, लेबनान के खलील जिब्रान की लघुकथाएँ हैं। इनका सबका मिला-जुला प्रभाव भारतीय लघुकथा पर है। लघुकथा को परम्परा के नाम पर हितोपदेश, पंचतन्त्र से जोड़ सकते हैं। पुराणों तथा दर्शन ग्रन्थों के दृष्टान्त बहुत हैं।

प्रश्न : इन दिनों लिखी जा रही लघुकथाओं की प्रमुख कमजोरियाँ कौन-सी हैं?

उत्तर : लघुकथाओं में चरम बिन्दु (Climax) का महत्त्व है। यह अन्त में आना चाहिए। काफी लघुकथाओं में यह नहीं आता या कमजोर आता है।

प्रश्न : लघुकथा का मिनी कहानी एवं व्यंग्य से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर : लघुकथा को मिनी कहानी कह सकते हैं। लघुकथा में व्यंग्य प्रधान तत्त्व है।

प्रश्न : लघुकथा की वर्तमान स्थिति कैसी लगती है?

उत्तर : अच्छी है।

प्रश्न : आज इतनी अधिक लघुकथाएँ क्यों लिखी जा रही हैं?

उत्तर : कथन लघुतर होता जा रहा है और लघुकथा तीखा प्रभाव छोड़ती है। प्रभाव एक पिन चुभोने जैसा होता है।

प्रश्न : लघुकथा का प्रारूप कैसा होना चाहिए?

उत्तर : कम-से-कम शब्द होने चाहिए। विशेषण, क्रिया-विशेषण नहीं हों और चरम बिन्दु तीखा होना चाहिए।

प्रश्न : लघुकथा का आकार कितना हो?

उत्तर : वस्तु के हिसाब से ही आकार तय होगा।

प्रश्न : लघुकथा लिखते समय ध्यान रखने योग्य बातें...?

उत्तर : क्या कहना है, इसका ध्यान रखना चाहिए।

प्रश्न : आजकल लिख रहे लघुकथा-लेखकों की स्थिति पर आपके विचार...?

उत्तर : मैं इस पर कुछ नहीं कहूँगा। साधारणतः ठीक हैं।

प्रश्न : लघुकथा को प्रभावशाली बनाने के लिए और कोई विशेष बात...?

उत्तर : एक तो लेखकों में सामाजिक चेतना होनी चाहिए। अन्तर्विरोध पकड़ें। शैली का भी सहज होना आवश्यक है।

प्रश्न : स्वस्थ लघुकथा के क्या मापदण्ड हो सकते हैं?

उत्तर : छोटी, प्रभावशील और विचार करने को बाध्य करनेवाली रचना लघुकथा हो।

प्रश्न : पिछले दिनों चले लघुकथा आन्दोलन पर आपके विचार...? क्या किसी विधा की उन्नति के लिए आन्दोलन जरूरी हैं?

उत्तर : आन्दोलन के मुद्दे मेरी समझ में नहीं आते। कोई लघुकथा आन्दोलन था ही नहीं। जरूरत भी नहीं है।

प्रश्न : क्या किसी विधा की उन्नति के लिए समीक्षा आवश्यक है?

उत्तर : निश्चित ही समीक्षा में आवश्यक जानकारी होती है।

प्रश्न : इस विधा को समीक्षकों द्वारा गम्भीरता से न लिए जाने के क्या कारण हैं?

उत्तर : नहीं, ऐसी बात नहीं है। समीक्षक आकर्षित तो हो रहे हैं।

प्रश्न : लघुकथा की समीक्षा के क्या निकष हो सकते हैं?

उत्तर : जो निकष कहानी की समीक्षा के होते हैं, वही लघुकथा की समीक्षा के निकष माने जाएँगे।

प्रश्न : लघुकथा का समीक्षा पक्ष पुष्ट न हो पाने के क्या कारण हैं?

उत्तर : लघुकथाएँ समीक्षकों का पूरा ध्यान खींचने लायक शायद अभी नहीं हुई हैं।

प्रश्न : इसके समीक्षा पक्ष को पुष्ट करने के लिए लघुकथा-लेखकों की क्या भूमिका हो सकती है?

उत्तर : लघुकथा-लेखक खुद समीक्षा भी लिखें।

प्रश्न : इसके बेहतर भविष्य के लिए कोई योजना?

उत्तर : मेरी नजर में कोई योजना नहीं है।

प्रश्न : क्या आपको इस विधा का भविष्य उज्ज्वल लगता है?

उत्तर : भविष्य जरूर उज्ज्वल है। फार्म हर विधा का छोटा होता जा रहा है।

प्रश्न : लघुकथा-लेखकों के लिए कोई सुझाव या सन्देश?

उत्तर : अनुभवों का विश्लेषण करें, नजरिया हो, अनुभवों का सही अर्थ करें और कम-से-कम शब्दों में कह दें। ●●

# पड़ाव और पड़ताल-6

'पड़ाव और पड़ताल' का छठा खण्ड चर्चित लघुकथाकार एवं सजग समीक्षक अशोक भाटिया के सम्पादन में प्रस्तुत किया जा रहा है। इस खण्ड में सत्तर के दशक से पूर्व के लघुकथाकारों में से आदरणीय अयोध्या प्रसाद गोयलीय, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', जगदीशचन्द्र मिश्र, प्रेमचन्द, विष्णु प्रभाकर तथा हरिशंकर परसाई की लघुकथाएँ संकलित की गई हैं। इनकी प्रस्तुति से पाठक सत्तर के दशक से पूर्व की और उससे बाद की लघुकथा के विभेद को अच्छी तरह समझ सकेंगे और यही इस खण्ड की प्रस्तुति का मूल उद्देश्य भी है।

वरिष्ठ लघुकथाकारों की रचनाओं की 'पड़ताल' डॉ. बलवेन्द्र सिंह, सुरेश यादव, डॉ. ओम प्रकाश 'करुणेश', डॉ. राजेन्द्र टोकी, डॉ. सुभाष रस्तोगी तथा डॉ. बलराम अग्रवाल ने की है। समालोचना का जिम्मा डॉ. राकेश कुमार ने सँभाला है। लघुकथा पर विस्तृत आलेख माधव नागदा ने प्रस्तुत किया है। ये सभी अपने-अपने क्षेत्र के जाने-माने नाम हैं और इन्होंने अपने काम को बहुत ही ईमानदारी से पूरा किया है। यह हमारी खुशकिस्मती है कि ये सब 'पड़ाव और पड़ताल' में हमारे सहयोगी बने हैं।

'धरोहर' में इस बार लघुकथा पर हरिशंकर परसाई, विष्णु प्रभाकर और रमेश बतरा से मुकेश शर्मा, अशोक भाटिया तथा गौरीनन्दन सिंहल की महत्त्वपूर्ण बातचीत दी जा रही है जो कि इस विधा के बहुत-से अनछुए पहलुओं पर प्रकाश डालती है।

मेरा मानना है कि 'पड़ाव और पड़ताल' शृंखला में इस खण्ड का अपना अलग ही ऐतिहासिक महत्त्व रहेगा। दोस्तो, आपका क्या विचार है? अवश्य लिखें।

—मधुदीप

शृंखला संयोजक : पड़ाव और पड़ताल
सम्पर्क : 138/16, त्रिनगर, दिल्ली-110 035
मो. : 093124 00709, 081300 70928

## डॉ. अशोक भाटिया

जन्मतिथि : 5 जनवरी, 1955

जन्मस्थान : अम्बाला छावनी (हरियाणा)

शिक्षा : एम.ए. (हिन्दी), पी-एच.डी.

प्रकाशित कृतियाँ : जंगल में आदमी, अँधेरे में आँख (लघुकथा-संग्रह), श्रेष्ठ पंजाबी लघुकथाएँ, निर्वाचित लघुकथाएँ, पैंसठ हिन्दी लघुकथाएँ, विश्व साहित्य से लघुकथाएँ, नींव के नायक (सम्पादित लघुकथा-संकलन), समकालीन हिन्दी लघुकथा (आलोचना) के अतिरिक्त कविता व बाल साहित्य की पुस्तकों का प्रकाशन

सम्पादन : हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला की पत्रिका 'हरिगन्धा' के लघुकथांक का सम्पादन

विशेष : लघुकथा-संग्रह 'अँधेरे में आँख' का तमिल व मराठी में अनुवाद व प्रकाशन

सम्प्राप्ति : अनेक सम्मानों से सम्मानित व पुरस्कारों से पुरस्कृत

सम्पर्क : 1882, सेक्टर-13,
करनाल-132 001 (हरियाणा)
मो. : 094161 52100
ई-मेल : ashokbhatiahes@gmail.com
ashokbhatiaonline@yahoo.co.in